Approved & enlisted by UGC (Sr. No. 185, J.No. 40741)

ISSN : 2277-4351 RNI Reg:UTTMUL 2012/53882

वैदिक वाग् ज्योतिः

Vaidika Vāg Jyotiḥ

An International Refereed & Peer-Reviewed
Research Journal on Vedic Studies

Vol./वर्ष–6 July–December 2018 No./अंक 11

सम्पादक
प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री
अध्यक्षचर, वेद विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
(NAAC द्वारा 'ए' ग्रेड प्रदत्त एवं यू.जी.सी. द्वारा पूर्णतः अनुदानित समविश्वविद्यालय)
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar-249 404 (Uttarakhand) India
http://www.gkv.ac.in

वैदिक वाक्

शन्नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑ण॒ः शन्नो॑ भवत्वर्य्य॒मा।
शन्न॒ऽइन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ः शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः।। यजु. 36/9

पदार्थः—(शम्) सुखकारी (नः) अस्मभ्यम् (मित्रः) प्राण इव प्रियः सखा (शम्) (वरुणः) जलमिव शान्तिप्रदः (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (भवतु) (अर्य्यमा) योऽर्यान् मन्यते स न्यायाधीशः (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) बृहत्या वाचः पालको विद्वान् (शम्) (नः) अस्मभ्यम् (विष्णुः) व्यापकेश्वरः (उरुक्रमः) उरु बहुक्रमः संसाररचने यस्य सः।

अन्वयः—हे मनुष्या यथा नो मित्रः शं भवतु वरुणः शम्भवत्वर्य्यमा नः शं भवतु इन्द्रो बृहस्पतिर्नः शम्भवतु उरुक्रमो विष्णुर्नः शम्भवतु तथा युष्मभ्यमपि भवेत्।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। मनुष्यैर्यथा स्वार्थं सुखमेष्टव्यं तथा परार्थमपि तथा च ते स्वयं सत्सङ्गमिच्छेयुस्तथा तत्रान्यानपि प्रेरयेयुः।

पदार्थ—हे मनुष्यो! जैसे (नः) हमारे लिये (मित्रः) प्राण के तुल्य प्रिय मित्र (शम्) सुखकारी (भवतु) हो (वरुणः) जल के तुल्य शान्ति देनेवाला जन (शम्) सुखकारी हो (अर्यमा) पदार्थों के स्वामी वा वैश्यों को माननेवाला न्यायाधीश (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी हो (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान् (बृहस्पतिः) महती वेदरूप वाणी का रक्षक विद्वान् (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हो और (उरुक्रमः) संसार की रचना में बहुत शीघ्रता करनेवाला (विष्णुः) व्यापक ईश्वर (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होवे वैसे हम लोगों के लिये भी होवे।

भावार्थ—इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। मनुष्यों को योग्य है कि जैसे अपने लिये सुख चाहें वैसे दूसरों के लिये भी और जैसे आप सत्सङ्ग करना चाहें वैसे इसमें अन्य लोगों को भी प्रेरणा किया करें।

द.भा.

वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्

नाना-तर्कैर्वितर्कैर्विबुध-जनमतैर्भूषयल्लेखमालाः
शास्त्राणां दर्शनानां निगमपथजुषां ब्राह्मणानां बहूनाम्।
वाक्यैः सिद्धान्तनिष्ठैः समम् उपनिषदां तत्त्वमाधातुकामम्
वाग्ज्योतिर्वैदिकं तत् प्रसरतु भुवने ज्ञानविज्ञानदं नः॥1॥ (स्रग्धरा)

विद्वद्व्यूहविचारसारसहितं यत् प्राच्यविद्याऽऽश्रितम्
अज्ञानाऽन्धतमोनिवारणपरं सद्-बुद्धिशुद्धि-प्रदम्।
शोधोद्योगपरायणा बुधजना जानन्तु तद् दीपकम्
वाग्ज्योतिर्निंतरां विभाति भुवने ज्ञानप्रदं वैदिकम्॥2॥ (शार्दूलविक्रीडितम्)

—प्रशस्यमित्रशास्त्रिणः

अनुक्रम

वैदिक वाक् *iii*

सम्पादकीय- वैदिक ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष *vii*

हिन्दी संभाग

1. **ऐतिहासिक वेदार्थ पद्धति : एक विमर्श** 1
   —प्रो. मान सिंह
2. **ऋग्वेदीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि में पाश्चात्य विद्वानों का योगदान** 12
   —डॉ. रूप किशोर शास्त्री
3. **आर्यसमाज के द्वितीय नियम की वेदमूलकता** 27
   —प्रो. वीरेन्द्र कुमार अलंकार
4. **वैदिक राष्ट्रिय मूल्य-चेतना** 46
   —डॉ. अरुणा शुक्ला
5. **संहिताओं में मन्त्रों अथवा सूक्तों के साथ उल्लिखित ऋषि नाम** 53
   —डॉ. सरस्वती
6. **श्रीअरविन्द की दृष्टि में सामयिक शिक्षा-समस्या और समाधान** 61
   —डॉ. सुषमा अलंकार
7. **पर्यावरण के चिन्ताकर्ता वेद** 72
   —प्रो. राम सुमेर यादव
8. **धर्मसूत्रों में वर्णित न्यायविधि एवं दण्ड व्यवस्था** 78
   —डॉ. नारायण प्रसाद भट्टराई
9. **पृष्ठ-स्तोत्रों के सामगानों का ज्योतिस्वरूप** 90
   —सन्दीप
10. **वैदिक वाङ्मय में नारी का पत्नी स्वरूप** 96
    —कामनी शर्मा

11. **वैदिक वाङ्मय में ज्योतिष का स्वरूप** 99
–नीरज कुमार

12. **प्रार्थना का वैदिक स्वरूप** 106
–डॉ. सन्दीप कुमार चौहान

English Section

13. Ecological Awareness in Vedic and Ancient Indian Texts 111
- Dr. Shashi Tiwari

14. A study of Gynaecology in Atharvaveda 125
- Tahasin Mondal

15. Yoga-Traditional Method of Well-Being 129
- Jaidev

16. Srimad Bhagvadgita as a Stress Management Guide 133
- Vandana Panwar, Navjyoti Siddhu

17. In the Beginning 2 : Speculation? 138
(the start of Philosophy in the Rigveda)
- Dr. Nicholas Kazanas

18. **श्रद्धाञ्जलि : स्व. डॉ. भवानीलाल भारतीय** 150
('वैदिक वाग् ज्योति' सलाहकार समिति सदस्य)
–डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री

✦✦✦

सम्पादकीय

वैदिक ज्ञान के व्यावहारिक पक्ष

उपनिषदों के सन्दर्भ में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के दृष्टिकोण में प्रायः समानता दिखाई पड़ती है। सायण जैसे कर्मकाण्डी वेदभाष्यकार उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत रखते हैं। ज्ञानकाण्ड प्रधान होने के बाद भी उपनिषदें अपने सिद्धान्तों को व्यावहारिक ढंग से प्रस्तुत करती हैं। उपनिषद् शुद्ध पराविद्या अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान के भण्डार माने जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उपनिषदों में हमारे सांसारिक अर्थात् व्यावहारिक पक्ष की अवहेलना की गयी है। हम ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र को ही लें।[1] इसमें जहां ईश्वर के सर्वव्यापक होने तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का आधार होने की बात कही गयी है, वहां यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ईश्वररचित इस सृष्टि में मनुष्य को सर्वथा प्रलोभनहीन होकर ही रहना चाहिए। ईश्वर-प्रदत्त वस्तुओं का हम भोग अवश्य करें किन्तु उनमें लिप्त न हों। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय आदि धर्माचरण-सम्बन्धी लोक व्यवहार की बातों को अपने जीवन में अवश्य स्थान दें। ईशोपनिषद्-प्रथम मन्त्र के अन्त में **'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया कि लालची मनुष्य के लिए इस संसार में सुख की प्राप्ति असम्भव है। वास्तव में भौतिक ऐश्वर्य एवं धन, सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने की कामना ही हमारे विनाश का मूल कारण बन सकती है। अन्यत्र कठोपनिषद्[2] में भी इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि केवल वित्त (धन) से ही मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती-**'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**। आज की भौतिकवादी सभ्यता धनोपार्जन तथा उसके निर्बाध उपभोग को ही जीवन की चरम सार्थकता मानने के साथ-साथ इस को ही शिश्नोदरपूर्त्यर्थ येन केन प्रकारेण साम-दाम-दण्ड-भेद से प्राप्ति-हेतु परम व्यावहारिक स्वीकार करती है।[3] किन्तु उपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि केवल धन और ऐश्वर्य ही मनुष्य को सम्पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं कर सकते। कामोपभोग से कामनाएं शान्त नहीं होतीं अपितु अग्नि में ज्वलनशील सामग्री के डाले जाने पर जिस प्रकार वह अधिक तीव्र होती है,उसी प्रकार उपभोग से हमारी कामनाएं अभिवृद्ध ही होंगी, शान्त नहीं।

संसार को मनुष्य के लिए व्यवहार का या यों कहें कर्म का क्षेत्र कहा गया है। ईशोपनिषद् का द्वितीय मन्त्र[4] मनुष्य को शतायु पर्यन्त कर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है। प्रायः देखने में आता है कि भौतिकवाद के प्रसार ने संसार

में कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी जन्म दिया है जो अकर्मण्य होकर विलासमय जीवन व्यतीत करने के स्वप्न देखते हैं। ऐसे लोग वास्तव में अव्यवहारिक होते हैं और वे पुरुषार्थ की अपेक्षा भाग्य को ही वरीयता प्रदान करते हैं एवं वे आलस्य तथा प्रमाद का जीवन ही जीना चाहते हैं। उपनिषद् की शिक्षा भाग्यवाद तथा अकर्मण्यता का घोर विरोध करती है और मनुष्य को कर्मठ जीवन व्यतीत करने के लिए कहती है तथा जिससे व्यक्ति व्यावहारिक बनता है। **'क्रतुमयो अयं पुरुषः'** की सूक्ति के अनुसार मनुष्य का कर्मशील होना ही उसकी व्यावहारिकता का सबसे बड़ा गुण है।

कर्म और ज्ञान के समन्वय का उपदेश देकर उपनिषद् ने हमारी सभ्यता के सम्मुख प्रस्तुत एक और चुनौती का उत्तर दिया है। आज की सामाजिक व्यवस्था में ज्ञान और कर्म–सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्ष–दो सुदूरवर्ती छोरों पर खड़े दिखाई देते हैं। भौतिकवाद ने लोगों को इतना अधिक ग्रस्त कर लिया है कि जीवन की कार्मिक व्यस्तताओं से क्षणभर के लिए भी अवकाश प्राप्त नहीं कर पाते और रात-दिन अर्थ-प्राप्ति की हाय-हाय में लगे रहते हैं। विशेषतः महानगरीय जीवन तो आज की सभ्यता का नितान्त विकृत एवं अभिशप्त रूप पेश करता है, जहां लोग मुंह अन्धेरे उठकर जीविकोपार्जन में लग जाते हैं और रात्रि को उस समय घर लौटते हैं जबकि संसार सोने की तैयारी करता है। ऐसे व्यस्त एवं व्याकुल जीवन में मनुष्य मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन के लिए समय कैसे निकाल सकता है? इसी विडम्बनात्मक स्थिति का समाधान करने के लिए हमारे ऋषियों ने वैदिक वाङ्मय में ज्ञान और कर्म अर्थात् सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्ष के समन्वय पर जोर देते हुए स्पष्ट किया है कि-**'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते'**[5] अर्थात् हे जीव!तू व्यावहारिक कर्मशील जीवन को धारण कर, इससे हम मृत्युमुख अर्थात् संसार से छूटते हैं तो विद्या (ज्ञान) के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। अत एव तैतिरीय उपनिषद्[6] के ऋषि ने अपने शिष्यों को सम्पूर्ण रूप से सैद्धान्तिक ज्ञान (विद्या) की शिक्षा देकर(वेदमनूच्य) व्यावहारिक पक्ष को समझाते हुए कहा कि–**'आचार्यः अन्तेवासिनम् अनुशास्ति-सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायात् मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनम् आहृत्य प्रजा-तन्तुम् मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यात् न प्रमदितव्यम्। धर्मात् न प्रमदितव्यम्। कुशलात् न प्रमदितव्यम्।विभूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।।1।।**

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव।आचार्य देवो भव। अतिथिदेवो भव। यानि अस्माकम् अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि न इतराणि। यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि।।2।। ये के च अस्मत् श्रेयांसः ब्राह्मणाः तेषां त्वया आसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया

देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।।3।।

अर्थात् हे शिष्यो! तुम सदा सत्य ही बोलना। धर्म का आचरण करना। स्वाध्याय में प्रमाद मत करना। आचार्य के लिए, जो उसे प्रिय-धन हो वह दक्षिणा-रूप में लाकर उसे देना। वंश-परम्परा को मत काट देना अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना। सत्य-कथन से प्रमाद मत करना। धर्म से प्रमाद मत करना। जिस बात में तुम्हारा कुशल होता दीखे उसमें प्रमाद मत करना। अपनी विभूति बढ़ाने में प्रमाद मत करना। स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करना।

संसार में जो देव हैं, तुमसे दिव्य गुणों में बड़े हैं, और जो पितर हैं, तुमसे आयु में बड़े हैं, उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने में प्रमाद मत करना। माता को देवी समझना। पिता, आचार्य तथा अतिथि को भी देव समझना। हमारे जो अनिन्दित कर्म हैं उनका ही सेवन करना, अन्यों का सेवन मत करना, और जो हमारे सुचरित हैं उनकी ही तूने उपासना करनी, दूसरे कर्मों की नहीं।

हमसे श्रेष्ठतर ब्राह्मण जहां हों उनको तूने बैठने के लिए आसन देकर ही सांस लेना। श्रद्धा से तो दान देना ही, परन्तु श्रद्धा न होने पर भी दान देना। अगर तुम पर लक्ष्मी का वरदान हो तब तो देना ही, अगर न हो तो भी लोक-लाज से देना। भय के कारण भी देना। प्रेम से भी देना। अगर किसी कार्य में सन्देह उत्पन्न हो जाय, यह समझ न पड़े कि 'धर्माचार' क्या है, अथवा किस स्थिति में कैसे बरतना है, 'लोकाचार' क्या है, तो तुम आस-पास के विचारशील विद्वान्, सब दृष्टियों से ठीक-ठाक विचार करने वाले-सन्तुलित लोग जो हों, वे जैसा कहें वैसा करना। ये लोग ऐसे होने चाहियें जो उसी प्रकार की समस्या को झेले हुए हों,या तो इसी प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिए नामांकित (Nominated) हों, स्वभाव से रुखे न हों, धर्मबुद्धि वाले हों। वे जैसा बरतें या बरतने को कहें ऐसी स्थिति में वैसा बरतना। यही आदेश है, यही उपदेश है,यही वेद और उपनिषद् का सार है, यही हमारा भी अनुशासन है, इसी प्रकार आचरण करना उचित है, इसी प्रकार आचरण करना चाहिए।"

तितिरि ऋषि के उक्त अनुशासन अर्थात् उपदेश में व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित कई बातें मुझे महत्वपूर्ण लगती हैं, जैसे-पहली है **सत्य का जीवन में व्यवहार**-उपनिषत्कार ऋषियों का कहना है कि जीवन में सत्य का पालन करो और सत्य का ही दूसरों के लिए प्रवचन करो। वे कहते हैं कि मनुष्य को इस बात को हमेशा समझना चाहिए कि सर्वत्र नियम का शासन है, जिसे ऋत कहते हैं। यह मनुष्य का बनाया हुआ नियम नहीं, भगवान् का बनाया हुआ है। मनुष्य का बनाया

हुआ नियम अगर भगवान् के नियम के अनुसार है तो वह भी चलेगा, परन्तु नित्य-नियम दैवीय नियम ही है, अखण्ड, सार्वभौम नियम। उन नियमों के अनुसार ही हमें अपना व्यवहार पक्ष मजबूत करना चाहिए। ऋत नाम से कहे गये इन दैवीय नियमों के अलावा नियमों के दो और रूप भी हैं। एक ऐसे नियम जो ऋत के दैवीय नियम के अनुकूल हैं-इन्हें सत्य कहा जाता है, दूसरे ऐसे नियम जो सामाजिक परिस्थितियों के आधार पर बने होते हैं, बदल भी सकते हैं, इन्हें 'साधारण नियम' कहा जा सकता है। ऋषि कहते हैं कि हमें जहां ऋत का पालन करना है, वहां सत्य का भी पालन करना है। जीवन में सत्य-पालन करते हुए ही दूसरों को भी वैसा करने की सीख दो। यह तब ही सम्भव है जब व्यक्ति पहले अपने जीवन को सत्यमय बनाता है। शतपथब्राह्मण के अनुसार दो प्रकार का संसार होता है- सत्य और अनृत। सत्य अपने स्वरूप का परित्याग न करते हुए सदा एक सा रहता है। वस्तुतः सत्य चक्षु है, किसी भी विवाद की स्थिति में आंखों द्वारा देखा गया ही यथार्थ एवं विश्वसनीय कहलाता है। सत्य बोलने वाले का तेज और यश सदा बढ़ता है, सर्वत्र उसकी जीत होती है, उसकी कामनाऐं पूर्ण होती हैं तथा उसकी वाणी पवित्र होती है। शतपथ[7] के एक आख्यान में बताया गया है कि सत्य बोलने वाले प्रायः पहले निन्दित होते हैं परन्तु अन्त में अच्छा फल पाते हैं अर्थात् उनकी कीर्ति और सम्मान चारों दिशाओं में फैलता है। इसके विपरीत वह मनुष्य अपवित्र कहलाता है, जो झूठ बोलता है। यह इसी दृष्टि से कहा गया है कि चाहे कुछ न बोले परन्तु असत्य भाषण कदापि नहीं करना चाहिए। योगदर्शन के व्यास-भाष्य[8] में सत्य को इस प्रकार परिभाषित किया गया है-**'सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथा दृष्टं यथाऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वंचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत् तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्'** अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसके सम्बन्ध में वैसी ही वाणी और वैसे ही मन का होना सत्य कहाता है। इन्द्रियों से जैसा प्रत्यक्ष किया है, अनुमान से जैसा जाना है और जैसा दूसरों से सुना है, ठीक वैसे ही वाणी और मन का होना सत्य है और दूसरे मनुष्यों में अपने ज्ञान को पहुंचाने के लिए जो वाणी बोली गयी है, यदि वह ठगने वाली, भ्रान्ति पैदा करने वाली और जिससे सही या गलत कुछ भी बोध न होता हो, ऐसी वाणी न हो, तो वह सत्य है। यह सत्य वाणी सभी प्राणियों के उपकार के लिए हो,प्राणियों को दुख देने के लिए प्रवृत्त न हो। यदि इस प्रकार से अर्थात् वंचनारहित भ्रांतिरहित ज्ञानबोधकादि उपर्युक्त वाणी होती हुई भी उच्चारित होने पर प्राणियों को दुःख देने वाली होवे, तो वह सत्य नहीं है पापरूप असत्य ही होगी।

उस पुण्याभास अर्थात् पुण्य की तरह प्रतीत होने वाले, पुण्य के जैसे अपुण्य से पाप का फल अतिशय दु:ख ही प्राप्त होगा। इसलिए वाणी की परीक्षा कर के,पहले सोच-समझकर प्राणिमात्र के लिए हितकर सत्यवचन बोलने चाहिए। "अन्यत्र भी कहा गया है-सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। अर्थात् ऐसा सत्य बोलो जो प्रिय हो, अप्रिय सत्य से बचो।

वैदिक ऋषि का समस्त चिन्तन पूर्ण सत्य पर आधारित है उसमें झूठ को तनिक भी अवसर नहीं, परन्तु आजकल के चिन्तकों और तथाकथित प्रगतिशील लोगों का यह मानना है कि यही व्यावहारिकता है कि येन केन प्रकारेण सफल हुआ जाये चाहे उसमें कितना भी असत्यमिश्रित व्यवहार क्यों न हो। इसे अंग्रेजी भाषा में वे कहते हैं- Be a practical & win (व्यावहारिक बनो और किसी भी गलत सही तरीकों से विजय प्राप्त करो)। अन्ततोगत्वा यह चिन्तन दु:खदायी ही होता है। इसीलिए अग्निपुराण में कहा गया है कि किसी भी स्थिति में-चाहे अपना लाभ हो, परार्थ हो, सन्तति के लिए लाभकर हो अथवा अपने से इतर किसी भी इंसान का झूठ बोलकर लाभ होता हो वह ठीक नहीं है-**आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे वापि मानवाः। अनृतं ये न भाषन्ते ते बुद्धाः स्वर्गगामिनः॥** गरुड़पुराण[9] ने भी आधुनिक चिन्तकों की उक्त सोच को नकारते हुए लिखा है कि-नो तत् सत्यं **यच्छलेनानुविद्धम्** अर्थात् वह व्यवहार सत्य नहीं कहा जा सकता जो कि छल-फरेब कपट से युक्त हो। यही बात महाभारत[10] में इस प्रकार कही गयी है-**न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्।** इसीलिए दयानन्द सरस्वती[11] को लिखना पड़ा कि-"सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए"। परन्तु जब जीवन की हानि हो रही हो एवं सर्वस्व छीना जा रहा हो उस समय नीति की दृष्टि से असत्य बोलने में महाभारतकार को कोई आपत्ति नहीं है, अपितु ऐसी स्थिति में सत्य बोलना पाप की कोटि में आता है।[12] परन्तु भर्तृहरि इस बात से सहमत नजर नहीं आते। वे कहते हैं कि चाहे प्राण भी चले जायें, फिर भी सत्य का, न्याय का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए।[13] इसीलिए अथर्ववेद में पूर्ण सत्य को बृहत् सत्य बताते हुए उसे पृथ्वी के सबसे प्रथम धारक तत्वों में परिगणित किया गया है। आर्ष महाकाव्य महाभारत में वास्तविकता (सत्ता) को ही सत्य कहा गया है अवास्तविकता को नहीं।[14]

यहां पर तितिरि ऋषि इसलिए सत्य और धर्म के आचरण पर जोर दे रहे हैं जिससे कर्म क्षेत्र में स्नातक अपने भोगवाद की चकाचौंध को देखकर अपने ऊपर नियन्त्रण कर सके। भोगवाद और भ्रष्टाचार जैसे मधु और कैटभरूपी राक्षसों से बच सके।ऐसा न होने पर असत्य और अनाचार पनपता है, अन्याय और अत्याचार का बोलबाला हो जाता है तथा उस मानवी सत्यनिष्ठा का विनाश हो जाता है जो सभी निष्ठाओं जैसे व्रत, दीक्षा, दक्षता, श्रद्धा आदि का आधार-स्तम्भ है।यहां सत्यनिष्ठा का

अर्थ है जानते हुए असत् का त्याग और सुनिश्चित सत् को अंगीकार करना, स्वार्थनिष्ठ क्षुद्र सत्य के स्थान पर बृहत् सत्य को अपनाना और असत्यसिद्ध हुए सत्य को सदा के लिए छोड़ देना। तित्तिरि-प्रोक्त सत्यं वद का यही अभिप्राय है। अर्जित सैद्धान्तिक ज्ञान जब सत्य और धर्म के रूप में आचरण में परिणत हो जायेगा तभी मानव जाति की सार्वभौम एकता के लिए मार्ग खुल सकता है। सत्यनिष्ठ एवं न्यायनिष्ठ होकर तथा आन्तरिक सत्यज्ञान एवं सत्यप्रेरणाओं से युक्त होकर जीवन में सत्याचरण या न्यायपूर्ण आचरण करते हुए ही हम संकीर्ण मानसिकताओं से मुक्त होकर **वसुधैव कुटुम्बकम्**[15] को सार्थक कर सकते हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है **धर्म का पालन करना**। तैत्तिरीय उपनिषद् के ऋषि ने **धर्मं चर** के द्वारा कर्तव्य पालन की अनिवार्यता पर बल दिया है। चर पद लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन की क्रिया है, जो कि चर गतिभक्षणयोः इस धातु से निष्पन्न होता है। इसके गति और भक्षण-ये दो अर्थ होते हैं। गति से मनुष्य की समस्त प्रकार की क्रियाकलापों का बोध होता है और भक्षण का सम्बन्ध खानपान से है। इस प्रकार धर्म के साथ चर पद जुड़ने पर अर्थ होगा धर्म का आचरण करना। चौकोस्लोवाकिया के वैदिक विद्वान् करेल कर्मानन्द ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध[16] Dharma and spiritual path versus religion में धर्म का व्युत्पत्ति परक अर्थ (Etymological comment) करते हुए लिखा है- The Sanskrit word Dharma-धर्म drives from the word Dharati-धरति= to hold (in Hindi धरना) but this is unrelated to the word धरती) from a verbal root dhri--धृ, which originates from the proto & Indo/Eurupean verbal root dher & if follows that Dharma should serve as a railing or handle which a person can hold on the spiritual path- अतः उपनिषद् के ऋषि ने अपने स्नातक को सीख देते हुए कहा कि तुम्हें जीवन में आध्यात्मिकता का मार्ग कभी नहीं छोड़ना है। उक्त धृ धातु के आधार पर व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से धर्म शब्द का अर्थ है-धारण करना। अर्थात् जो धारण करता है या किसी वस्तु का अस्तित्त्व बनाये रखता है वही धर्म है। सामान्य भाषा में धर्म शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है, जैसे-स्वभाव, कर्तव्य, गुण, सत्कर्म, सत्य, ईमान, सम्प्रदाय, कानून और पुण्य आदि। ऋग्वेद में धर्म को न्याययुक्त सत्याचरण व समन्वित विकास के रूप में स्पष्ट करते हुए कहा है कि परमेश्वर हम सभी के लिए धर्म का उपदेश करता है कि, हे मनुष्य लोगो! जो पक्षपात रहित न्याय सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो, किन्तु उसी की प्राप्ति के लिए विरोध को छोड़कर परस्पर सम्मति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता रहे और किसी प्रकार का दुख न हो। सत्य विद्या से युक्त ज्ञानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों

को धर्म का ही सेवन करना चाहिए, अधर्म का नहीं।[17] उपनिषद् का ऋषि बार-बार धर्माचरण की बात इसलिए करता है क्योंकि धर्म का आचरण ही मनुष्य को सत्कार का पात्र बनाता है। धर्माचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है,उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं। अधर्माचरण से कदापि नहीं। वैदिक वाङ्मय में धर्म की अवधारणा तार्किक और वैज्ञानिक है। इसमें व्यक्ति स्वयं के विकास के साथ-साथ सम्पूर्ण मानव जाति के विकास के लिए कर्म करता है। ऐसे कर्मों को ही धर्म कहा जाता है। इन कर्मों के विकास की अवधारणा सम्पूर्णता में है अर्थात् भौतिक विकास तथा आध्यात्मिक विकास। इसी धर्म की अवधारणा को कणाद ने स्वीकार करते हुए लिखा है कि वे सभी कर्म धर्म हैं, जिनसे प्रत्येक व्यक्ति व समाज का भौतिक व आध्यात्मिक विकास होता है।[18] पं. राजवीर शास्त्री के अनुसार शाश्वत, सार्वभौम, देश काल व जाति से अबाधित सत्य बातों का ही नाम धर्म है, जिसका कोई विरोध नहीं हो सकता।[19] इस प्रकार के तार्किक और वैज्ञानिक धर्म की व्यावहारिक सीख अपने स्नातकों को तित्तिरि ऋषि यहां इसलिए दे रहे हैं जिससे वे कर्त्तव्य एवं धर्म का पालन निष्ठा से कर सकें तो उनका आचरण शुद्ध, स्वच्छन्द एवं पवित्र हो जाए एवं सामाजिक कृत्य सुष्ठु रूप से हो सके। आचरण की शुद्धि धर्म से ही होती है। जिसे पतंजलि ने यम और नियम कहा है। इस प्रकार के धर्माचरण से जीवन में पवित्रता आती है। **"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः"** अर्थात् आचरण से हीन व्यक्ति को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।चूंकि आचरण की पवित्रता ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है अतः तित्तिरि ऋषि धर्माचरण की सीख अपने स्नातकों को दे रहे हैं। यम-नियमरूपी धर्म का पालन करने से ही मनुष्य आचरण की दिव्यता व पवित्रता से स्वयं आनन्दित होता हुआ सर्व जगत् हितकारी बन जाता है। धर्माचरण के बिना अच्छा इन्सान तो बनना दूर की बात है वह अच्छा माता-पिता, गुरु, शिष्य, किसान, व्यापारी, नेता, अभिनेता व एक आदर्श-सभ्य नागरिक भी नहीं बन सकता। यदि कोई व्यक्ति धर्माचरण के बिना ऊंची-ऊंची बात करता है तो वह केवल पाखण्ड ही है क्योंकि धर्माचरण ही उभयविध उन्नति अर्थात् अभ्युदय और निश्रेयस-की आधारशिला है। इस तथ्य को कणाद के शब्दों में हम ऊपर लिख चुके हैं। तित्तिरि ऋषि जानते हैं कि सैद्धान्तिक रूप से वेदादि शास्त्रों में क्या लिखा है, यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण यह है कि इन सिद्धान्तों को मानने वाले लोग कैसा आचरण करते हैं? इसीलिए वे अपने शिष्यों को वेदों का व्यावहारिक पक्ष समझा रहे हैं। डॉ. फतहसिंह[20] के अनुसार मनुष्यत्व का आधार है-अकर्तव्य से बचते हुए कर्तव्यकर्मों का करते रहना और मनुष्य व्यक्तित्व के आन्तरिक विश्वों को एक दिव्य चेतना-सिन्धु में परिणत करना। इसी सिन्धु का प्रवाह जब हमारी अहंबुद्धि, मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियों की चेतना में

होता है, तो उन्हें **सप्तसिन्धवः** कहा जाता है।यह सप्तविध चेतना वेद में **सप्तथी सरस्वती** कही गई है। वही अहंकार रूप वृत्र का वध करती है। इस वृत्र का वध होना जरूरी है, क्योंकि वृत्र एक अहि (सर्प) है। काम, क्रोध, लोभ, मत्सर आदि सपोलों सहित यह भयंकर सर्प मनुष्य-व्यक्तित्व में बराबर विष उडेलता रहता है जिससे वहां एक विषगिरि खड़ा हो जाता है जो सर्वत्र अज्ञान का घोर अन्धकार और जडतारूप हिम (बर्फ) की सैकड़ों परतें फैलाकर **सप्तसिन्धवः** के प्रवाह को रोक देता है। जिसका परिणाम होता है तन-मन के अनेक रोगों की सृष्टि और मनुष्य-व्यक्तित्व में आसुरी शक्तियों का नग्न-नृत्य। इस संकट से उबरने के लिए, मनुष्य-व्यक्तित्व को अहंकार-जन्य जड़तारूप हिम को पिघलाने की क्षमता प्राप्त करनी पड़ती है,जो कि तैतिरीयोपनिषद् के शब्दों में धर्म चर अर्थात् धर्माचरण से मिलेगी। अतः उक्त ऋषि का सत्य और धर्म पर जोर रहा है।

जैसे सत्य और धर्म का व्यावहारिक जीवन में बहुत महत्त्व है वैसे ही **स्वाध्याय** का भी विशेष स्थान है। उपनिषद् का ऋषि जानता है कि स्वाध्याय के अभ्यास से समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया जा सकता है। स्वाध्याय मनुष्य के लिए नेत्रवत् है। इससे मनुष्य की ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित रहती है, जिससे वह मिथ्याज्ञान और भ्रांतियों से बचा रहता है। स्वामी दीक्षानन्द[21] के अनुसार तै.उपनिषद् प्रोक्त ये अनुशासन दीक्षा के अन्तर्गत आते हैं। वैदिक धर्म में दीक्षा का बहुत महत्त्व है। किसी भी यज्ञ के आरम्भ में व्यक्ति जहां व्रत ग्रहण करता है वहां यज्ञ के अन्त में दीक्षा ग्रहण करता है। वेदारम्भ में जहां ब्रह्मचारी **अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि** (यजु.1.5) मन्त्र पढ़कर व्रत ग्रहण करता है। उस समय आचार्य उसे उपदेश देता है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, उसमें सबसे अधिक बल स्वाध्याय में प्रमाद न करने के बारे में दिया गया है। आचार्य कहता है, **स्वाध्यायान्मा प्रमदः। ----स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।** अर्थात् हे ब्रह्मचारिन्! स्वाध्याय से कभी प्रमाद न करना। स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद न करना।

इसके अतिरिक्त जहां बहिर्वित्त के समर्पण का नाम दक्षिणा है,वहां अन्तर्वित्त के समर्पण का नाम दीक्षा है। व्यक्ति का जितना भी अन्तर्वित्त है–उसका हृदय, उसका चित्त, उसका मन, उसका अहंकार, इन सभी अन्तर्वित्त को स्वाध्याय के लिए समर्पित्त करना स्वाध्याय दीक्षा है। नवस्नातक को आचार्य अन्तिम उपदेश देते हुए जहां सत्य, धर्म, लोकव्यवहार, अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों में और भूति (सुखों) के साधन धनादि की प्राप्ति में प्रमाद न करने की बात कहते हैं, वहां स्वाध्याय में प्रमाद न करने की बात दो बार करते हैं। इसलिए स्वाध्याय वैदिक ज्ञान के व्यावहारिक पक्षों में परम-दीक्षा है।[22]

स्वाध्याय परम-श्रम है, परम-तप है, परम-धर्म है, परम-योग है, परम-स्कन्ध है, परम-यज्ञ है, परम-रस है, परम-निधि है। अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, **तस्मात् स्वाध्यायो अध्येतव्यः।** इतने सारे विशेषण जो स्वाध्याय के शास्त्रों में परिगणित किये गये हैं वे सब सार्थक हैं। जिस समाज में स्वाध्याय की प्रबलता है वह समाज कभी भी मिथ्याज्ञान और भ्रांतियों में नहीं फंस सकता है। भवसंतरणोपनिषद् के अनुसार स्वाध्याय और संयम ऐसे तत्त्व हैं, जिनसे व्यक्ति पुरुष से पुरुषोत्तम बनता है।[23]

ऋषियों की दृष्टि में स्वाध्याय को परम-श्रम कहने का आशय है कि स्नातक को जीवन में स्वाध्याय को अपनी कसौटी बना लेना चाहिए। स्वामी दयानन्द ने इसलिए इसके महत्त्व को समझकर स्वाध्याय को परमधर्म कहा है। उन्होंने आर्यसमाज के तीसरे उद्देश्य में इसकी स्पष्ट घोषणा की है कि वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। **वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।** वेद का पढ़ना **स्वाध्याय** और पढ़ाना तथा सुनाना **प्रवचन** कहलाता है। जिसे भगवान् याज्ञवल्क्य ने परम-श्रम, भगवान् मनु ने परम-तप कहा है, उसे ही स्वामी दयानन्द ने परम-धर्म कहा है। न केवल दयानन्द ने ही यह बात कही है, अपितु कात्यायन ने भी **वाजसनेयीप्रातिशाख्य** में यही बात दोहरायी है-**वेदाभ्यासात् धर्मः, सम्प्रदानाच्च**।

छान्दोग्योपनिषद् में स्वाध्याय को स्कन्ध कहा गया है।[24] स्कन्ध शब्द का अर्थ जहां कन्धा है, वहां वृक्ष के तने अथवा प्रकाण्ड को भी स्कन्ध कहते हैं। वहीं से सभी शाखा-प्रशाखाएं फूटती हैं। उसी से पत्र-पुष्प-फल का उद्गम होता है। समस्त भार का वहन भी वही करता है। मनुष्य के कन्धे को भी स्कन्ध इसीलिए कहते हैं कि भार ढोने का अवसर आये, तो इन्हें ही आधार बनाया जाता है। तद्वत् स्वाध्याय वह प्रकाण्ड है, जिसमें से अर्थ-कामरूप शाखा-प्रशाखाएं फूटती हैं, यश-पुण्यरूप पुष्प और फल लगते हैं। जो व्यक्ति स्वाध्याय-स्कन्ध को अपने जीवन का आधार बनाते हैं,उनके परिवार में धर्मानुकूल अर्थ और काम की शाखाएं फूटती हैं और उनमें यश तथा पुण्य के पुष्प और फल लगते हैं। इसलिए जहां स्वाध्याय परमश्रम है, परमतप है, परमधर्म है, वहीं परमस्कन्ध भी है। अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए, यही तै.उपनिषत्कार और शतपथकार का स्पष्ट निर्देश है। महर्षि पतञ्जलि ने भी इसके महत्त्व को समझा था, इसीलिए उन्होंने योग के यम-नियमादि अष्टांगों में इसको स्थान दिया। जहां पांच यमों को सार्वभौम महाव्रत कहा, वहां उन्होंने नियमों को उन महाव्रतों के पालन में सहयोगी बताया है।[25] स्वाध्याय और योग को परस्पर एक-दूसरे का पूरक बताते हुए योग दर्शन(1.28) के व्यासभाष्य में लिखा है कि-**स्वाध्यायात्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा**

प्रकाशते।। व्यक्ति स्वाध्याय के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध करे, और चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा अधीतवस्तु का मनन करे। चित्तवृत्तिनिरोध और स्वाध्याय के मनन से परमात्मा प्रकाशित होता है, और जहां परमात्मा प्रकाशित होता है, वहां इच्छित दिव्य गुणों की सिद्धि भी स्वतः हो जाती है, जिसका वर्णन महर्षि पतञ्जलि ने इस प्रकार किया है-**स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः**(2.44) सिद्ध हुए स्वाध्याय से स्वाध्यायशील व्यक्ति को अभीष्ट गुणों का साक्षात्कार होता है। उसे विद्वान्, मन्त्रार्थद्रष्टा और योग की सिद्धियां जिन्होंने प्राप्त की हैं वे दिखाई दे जाते हैं और उसके काम में सहायक हो जाते हैं। ऐसा योग दर्शन के व्यासभाष्य में लिखा है। अतः इष्ट-देवता का सम्प्रयोग होने से स्वाध्याय परमयोग है। धर्मशास्त्रकार मनु और याज्ञवल्क्य ने स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ की संज्ञा दी है।[26]

स्वाध्याय **परमनिधि** भी है। निधि पद का सामान्य अर्थ कोष है, रुपये पैसे का कोष, व्यक्ति का, परिवार का, समाज का, सोसाइटी का, राष्ट्र का, सभी का अर्थकोष है इसी के लिए कोषागार BANK बने हैं, रक्षार्थ कोषाध्यक्ष बैठे हैं फिर उनकी रक्षार्थ संग-संग अंगरक्षक नियुक्त हैं। हर कोई कोषागार में अपनी निधि को देखता है और प्रसन्न होता है साथ ही भय भी बना रहता है कि कहीं कोई छीन न ले, झपट न ले, काट न ले, चुरा न ले, बांट न ले। क्यों न ऐसे धन का स्वामी बना जाए, जिसके विषय में कोई सन्देह ही न रहे। ऐसा धन तो एकमात्र विद्या-धन है। इसके विषय में नीतिकार ने बहुत ही अच्छा कहा है-**न चौरहार्यं न च राजहार्यं, न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि। व्यये कृते वर्धत एव नित्यं, विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्।।**

उपनिषद् के वैदिक ऋषि ने अपने शिष्य को स्वाध्याय के लिए जिस कारण से प्रेरित किया है उसका मूल स्नातक जानता है कि मुझे आदेश है ख्रहे ब्रह्मचारिन्! मैं ज्ञान-जल से तुझे भर रहा हूं और तूने जिसे पञ्च-ज्ञानेन्द्रियरूप अञ्जलि में सम्भाला है, एक-एक बिन्दु की रक्षा की है, जिससे तेरा मस्तिष्क-पात्र पूर्णतया भर गया है, वह रोके रखने के लिए नहीं। यही सांसारिक व्यावहारिकता है कि इस प्रवाह को सतत बहने दो। जहां पात्र देखो, वहां छोड़ दो। यह धन ऐसा है, जो बांटने से बढ़ेगा घटेगा नहीं। नीतिकार ने भी ऐसा ही संकेत ऊपर किया है। ऋषि-ऋण से उऋण होने का यही सच्चा मार्ग है।

विद्वानों ने स्वाध्याय शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की है[27] परन्तु उन सबमें **सु+आङ् पूर्वक अध्याय शब्द से निष्पन्न स्वाध्याय शब्द का अर्थ है**=वेद को सम्मिलित करके पठन करना। आङ् उपसर्ग सीमा और अभिविधि इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, जैसा कि पाणिनि ने लिखा है-**आङ् मर्यादाभिविध्योः** (अष्टा.

2.1.12)। यहां स्वाध्याय शब्द में आङ् उपसर्ग अभिविधि (सम्पृक्त) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस शोधपत्र में निर्दिष्ट स्वाध्याय की व्युत्पत्तियों की विद्यमानता में प्रश्न उत्पन्न होता है स्वाध्याय से क्या अभिप्राय लिया जाये? क्या हर किसी ग्रन्थ को पढ़ लेना स्वाध्याय है? नहीं, सर्वथा नहीं। जब तक अध्ययन में वेद सम्मिलित न हो, तब तक वह स्वाध्याय नहीं। वेद को सम्मिलित करके किया गया अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाएगा। आङ् उपसर्ग के अभिविधि अर्थ का महत्त्व भी यही है कि अध्याय को=वेद को सम्मिलित करके पढ़ने का नाम स्वाध्याय है। निरुक्त, याज्ञवल्क्यस्मृति, आश्वलायन गृ.सू. और पारस्कर गृ.सू. के अनुसार अध्याय शब्द वेद का वाचक है।[28] स्वाध्याय शब्द के अन्य दो प्रकार से भी अर्थ देखने को मिलते हैं, जैसे-अधीयत **इति अध्यायो वेदः, स्वस्य अध्यायः स्वाध्यायः, स्वपरम्परागत-शाखेत्यर्थः**[29] अर्थात् वेद को अपना बना लेना स्वाध्याय है, अथवा ऋग्वेदी, यजुर्वेदी आदि उपाधिधारी व्यक्ति परम्परया ऋगादि वेदों को अपना बना लें, तब वह स्वाध्याय कहलाएगा। यदि स्वाध्याय शब्द का विग्रह **स्वस्य अध्यायः=स्वाध्यायः** ऐसा करें तो इसका अर्थ होगा, अपना अध्ययन, अर्थात् अपने-आपका अध्ययन, आत्म-निरीक्षण, आत्मचिन्तन आदि। परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में यह अर्थ उपयुक्त नहीं है।

शास्त्र का निर्देश है कि स्वाध्याय में अनध्याय नहीं होना चाहिए। इसमें छूट नहीं, इसमें नागा नहीं। आचार्य दीक्षान्त-भाषण में सावधान करते हुए कहता है, कि स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद न करना चाहिए। प्रिय स्नातक, अब तुम गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होओगे। सम्भवतः प्रमाद-वश तुमसे कुछ भूलें हों,परन्तु ध्यान रखना कि स्वाध्याय में कभी प्रमाद न आने पाये। इसमें प्रमाद करने का बड़ा भयंकर परिणाम होगा। शतपथकार[30] तो स्वाध्याय में नागा करने से उतनी ही बड़ी हानि मानते हैं जितनी कि नदियों के रुकने से हानि होने की सम्भावना होती है, जितनी कि सूर्य के अनुदित होने से हानि होने की सम्भावना होती है, जितनी कि चन्द्रमा और नक्षत्र-मण्डल के अपनी चाल छोड़ देने से हानि होने की सम्भावना होती है। जिस दिन ये देवगण अपना व्रत भंगकर ठहर जाएंगे, उस दिन प्रलय हो जाएगी। इसी प्रकार व्यक्ति के स्वाध्याय व्रत को भंग करने का दुष्परिणाम होगा कि परिवार, समाज और राष्ट्र के शील, वृत्त, चरित्र का प्रलय हो जाएगा। यह अक्षम्य अपराध है। व्रत को अक्षुण्ण रखने के लिए चाहे एक वाक्य-मात्र क्यों न हो,उसे दोहरा ले, नागा न करे। स्वाध्याय सत्र की अखण्डता बनी रहनी चाहिए। और जब यह अखण्डता टूटी तो संसार में नाना मत-पन्थों का जन्म हुआ और तद्विषयक ग्रन्थों ने वेद का स्थान ले लिया, जो कि मानवीय सभ्यता के

विनाश का सूचक है, जिसके संकेत आज देखने को मिल रहे हैं। डा.सम्पूर्णानन्द ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **ब्राह्मण सावधान** में इसी ओर संकेत करते हुए वेदों की पुनः प्रतिष्ठा करने परजोर दिया है। इसीलिए ही वैदिक ऋषि स्वाध्याय को सबसे बड़ा व्यावहारिक पक्ष मानते हैं।

उपनिषद् का ऋषि अपने दीक्षित स्नातक को अगली महत्वपूर्ण दीक्षा अर्थात् व्यावहारिक पक्ष **गुरुसत्ता की महिमा** का निर्देश करते हैं। वे कहते हैं कि तुम्हें हमेशा माता को देवी और पिता, आचार्य तथा अतिथि को देव मानकर संसार में व्यवहार करना है। यही बात अन्यत्र भी वैदिक साहित्य में कही गयी है। जिनमें से शतपथकार का निम्न वचन बहुत सटीक है, इसको स्वामी दयानन्द ने भी **सत्यार्थप्रकाश** में स्थान दिया है-**मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद** (14. 6.10.2)।

भारतीय ऋषि परम्परा या अध्यात्म-परम्परा, गुरु-शिष्य की बुनियाद पर ही टिकी हुई है। अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य सूक्त, उपनिषदों में यम-नचिकेता, आरुणी-उद्दालक, सनत्कुमार-नारद, गीता में कृष्ण-अर्जुन संवाद, रामायण के गुरु वसिष्ठ, महाभारत के गुरु द्रोणाचार्य व कृपाचार्य, देवों के गुरु बृहस्पति तथा असुरों के गुरु शुक्राचार्य इसी गौरवशाली गुरु-शिष्य परम्परा का बोध कराते हैं।

अथर्ववेद में गुरु या आचार्य का सबसे प्रथम रूप मृत्यु कहा है। मृत्यु का अभिप्राय है, जो पुराने अज्ञान को, अविद्या को, बुरी आदतों को व बुरे स्वभाव को मार देता है। मानव स्वभाव की एक कमजोरी यह भी है कि जब कोई हमारे दोषों को बताता है तो वह व्यक्ति साक्षात् यम जैसा दिखाई पड़ता है लेकिन सच्चा गुरु अनन्त धैर्य व कुशलता के साथ इस दुरूह कार्य को इतनी आसानी से कर देता है कि जब हमारे वे दोष सर्वथा हट जाते हैं तो वे गुरु हमारे लिए वरणीय 'वरुण' रूप बन जाते हैं और तब गुरु बहुत ही सौम्यमूर्ति प्रतीत होते हैं और चतुर्थ चरण में तो गुरु हमारे समस्त दुःख-दर्दों की दवा या औषध रूप बन जाते हैं तथा इससे अगले चरण में अपने दिव्यज्ञान, दिव्यकर्म, दिव्य प्रेम व दिव्य आचरण से वे हमारे लिए पयः अर्थात् अमृत स्वरूप होकर हमें अमरता के मार्ग का पथिक बना देते हैं। चूंकि संसार एक समर है उसे जीतने के लिए पग-पग पर गुरुसत्ता की आवश्यकता है, इसीलिए आचार्य अपने स्नातकों को समझा रहे हैं कि इस सत्ता को देव मानकर चलना। समय-समय पर गुरुओं के पास जाकर उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करते रहना ही सबसे बड़ी व्यावहारिकता है। माता, पिता और आचार्यों के द्वारा प्राप्त ज्ञान, सिद्धान्त, लक्ष्य, कार्यपद्धति व सम्पूर्ण आचरण को आत्मसात् करके तद्रूप हो जाना अथवा उन जैसी दिव्य चेतना के साथ जीवन को जीना यही जीवन का सबसे बड़ा व्यावहारिक

दर्शन है। तैतिरीयोपनिषद् के ऊपर उद्धृत वचनों में कहा है **आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः** अर्थात् अपने आचार्य के लिए प्रिय धन लाकर उसे देते रहना। आचार्य का सबसे प्रिय धन है-ब्रह्मचारी। इसलिए स्वयं शिक्षित, दीक्षित होकर गुरुकार्य को, उसके संकल्प को, मिशन को, यज्ञ को आगे बढ़ाते रहना तथा ऐसी ही प्रकृति वाले दूसरे ब्रह्मचारी भी गुरु के पास भेजते रहना ताकि यह पावनी गुरु-शिष्य परम्परा बनी रहे, और यह तभी सम्भव है जब गृहस्थ धर्म का तपस्यापूर्वक पालन किया जाए। वास्तव में संसार एक आध्यात्मिक संस्था है। इसका आधार है उपनिषद् के ऋषि प्रोक्त उपर्युक्त दीक्षा वचन के रूप में कही ये व्यावहारिक बातें।

वैदिक ऋषि यह जानता है कि दिन भर जो विचार हमारे मस्तिष्क में घूमते रहते हैं-उनमें 80 प्रतिशत विचार अनावश्यक होते हैं वे विचार किस प्रकार के हैं यह हमारी चेतना के स्तर का संकेत करते हैं, इस शरीर में बहुत ही सुन्दर व्यवस्था भगवान् ने बनाकर हमें दी है, जिस प्रकार मोबाइल में व्यवस्था बनी है कि जब मोबाईल फुल चार्ज होगा तो फ्रन्ट स्क्रीन पर लाइन वाला कालम भी फुल होगा, यदि लाइन कालम 50 प्रतिशत आ गया तब संकेत है बैटरी 50 प्रतिशत डिस्चार्ज हो चुकी है, 20 प्रतिशत या 10 प्रतिशत लाईन कालम आ गया तो रेड लाइट आ जाती है जो संकेत करती है कि तुरन्त बैटरी चार्ज की जाये वरना मोबाईल डैड (बन्द) हो सकता है या फिर फट सकता है। इसी प्रकार जब हम निम्न चेतना से युक्त होते हुए कोई कर्म या सेवा करने का हठ करते हैं तब घर, संगठन आदि टूट जाते हैं। इसी प्रकार की प्रक्रिया भगवान् ने हमारे शरीर में भी बनायी हुई है। हमारा शरीर भी संकेत देता है जब अन्दर कोई रोग पैदा हो जाता है,जैसे-बुखार है तो शरीर का गर्म हो जाना, किडनी खराब है तो सूजन आ जाना इत्यादि संकेत हैं, इसी प्रकार जब मन में विचार आते हैं कि सब मुझसे नफरत करते हैं, सबको मेरी बुराई ही नजर आती है, घर में, संगठन में, सम्बन्धों में कुछ भी ठीक नहीं चल रहा है, हमारे भाग्य में तो रोना या कष्ट पाना ही लिखा है या फिर हम किसी की निन्दा चुगली करते हैं इत्यादि। नकरात्मक विचार जब आते हैं तो यह संकेत है कि चेतना का स्तर बहुत नीचे आ गया है, चार्ज करने की आवश्यकता है और जब मन उत्साह से, प्रसन्नता से, आशाओं से कृतज्ञता से भरा रहता है कुछ बड़ी सेवा करने की उमंग हृदय में हिलोरे ले रही हैं यह संकेत है कि चेतना का स्तर उच्चतम है, कितनी सुन्दर व्यवस्था शरीर के साथ भगवान् ने बनाकर हमें दी है वरना कैसे पता चलता कि अन्दर की स्थिति क्या है? अतः उच्च चेतना, आत्मचेतना, दिव्यचेतना, गुरु या ऋषिचेतना या भागवतचेतना में रहने का ही जीवन में बार ख़बार अभ्यास करना चाहिए। यही है वैदिक ऋषिओं का जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण।

1. ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्यस्वित् धनम्।।
2. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहेवित्तम्द्राक्ष्म चेत्त्वा। जीविष्यामो यावदीशिष्यसित्वंवरस्तु-मेवरणीय: सएव।। (1.27)
3.
4. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:। एवं त्वयि नान्यथेतो स्तिन कर्म लिप्यते नरे' (मं. सं.2)
5. शु.य. 40.14
6. तै.उ., शिक्षाध्याय वल्ली, 11वां अनुवाक
7. श्.ब्रा .9.5.1.12-17
8. साधनपाद: 30
9. 115 वां अध्याय
10. उद्योगपर्व 35.58
11. आर्यसमाज का 5वां नियम
12. अनृतं जीवितस्यार्थे वदन्न स्पृश्यते अनृतै: (द्रोण.प.190.47) सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत्। तत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् (कर्ण पर्व 69.34)
13. नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु, लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्। अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा, न्यायात्पथ: प्रविचलन्ति पदं न धीरा: घ्नी.श. (न्याय=सत्य)
14. सद्भाव: सत्यमुच्यते (म.भा.,शा.प.299.45)
15. अयं निज परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।। (हितोपदेश)
16. वैदिक वाग्-ज्योति: अवस.5/9, रनसल-Dec- 2017, पृ.126-130
17. ऋग्. 10.191.2 पर दयानन्द भाष्य।
18. यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धि स धर्म: (1.2.2)
19. दयानन्द सन्देश, जनवरी 1980
20. प्रगतिशील भारतीयता को वेदों की देन, वेद संस्थान, नई दिल्ली, 1991
21. स्वाध्याय-सर्वस्व, समर्पण शोध-संस्थान, साहिबाबाद, गाजियाबाद, 1994
22. वही, पृ.28 पर उद्धृत स्वाध्यायो वाव दीक्षा
23. स्वाध्यायसंयमाभ्यां दृश्यते पुरुषोत्तम (3.6)
24. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयोब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीय:(2. 23.1)
25. शौच-सन्तोष-तप:-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमा:, यो.द. 2.32
26. स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञ:, श.ब्रा.11.5.6.3
27. 1) सु+आङ्+अधि पूर्वक इङ् अध्ययने धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न स्वाध्याय शब्द का अर्थ है = अध्येता की वह अबाध गति जिससे वह अपने विषय में पारंगत हो जाए अथवा अध्येता का वह प्रवेश जिससे वह ग्रन्थ में आद्योपान्त हो जाए, 2) सु+आङ्+अधि पूर्वक इण् गतौ धातु से घञ् प्रत्यय करके निष्पन्न स्वाध्याय शब्द का अर्थ है कि स्वाध्याय वह प्रक्रिया है जिसमें सु=उत्तमतया, आ=प्रत्यक्ष द्वारा, अधि=अधिकृत रूप से, अय:

(इण्)=प्रवेश, उसका ज्ञान, उसके प्रति प्रगति, और उसकी प्राप्ति सम्भव हो, 3) सु+आङ्+अधि+आङ्+इण् गतौ धातु से अच् प्रत्यय करके निष्पन्न स्वाध्याय शब्द का अर्थ है–सुष्ठु आवृत्य अध्यायः स्वाध्यायः=सु=उत्तम रीति से आ=आद्योपान्त अधि=अधिकृत रूप से आ=सब ओर से इण्=पहुंच, अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति का उत्तमता से ग्रन्थ के आरम्भ से अन्त तक अधिकारपूर्वक सर्वतः प्रवेश का नाम स्वाध्याय है। (देखो, स्वाध्याय–सर्वस्व, स्वामी दीक्षानन्द)

28. इवेति भाषायां च अन्वध्यायं च (नि.1.2.1)
अधीयन्ते इत्यध्याया वेदास्तेषां संस्कारकमुपाकर्माख्यं कर्म (या, स्मृ. 1.142 पर मिताक्षरा)
29. स्वाध्याय–सर्वस्व, पृ.39
30. यन्ति वा आपः। एति आदित्यः। एति चन्द्रमाः। यन्ति नक्षत्राणि। यथा ह वा एता देवता नेयुर् न कुर्युः एवं हैव तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीयते। तस्मात्स्वाध्यायो अध्येतव्यः (श.ब्रा.11.5.7.1)

–प्रो. दिनेशचन्द्र शास्त्री

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (1-11) July-December 2018 ISSN 2277-4351

ऐतिहासिक वेदार्थपद्धतिः एक विमर्श

-प्रो० मानसिंह
60/3, मंशी प्रेमचन्द मार्ग, नवीन नेहरु नगर,
रुड़की-247667, हरिद्वार, उत्तराखण्ड

आचार्य यास्क के मत में वेद मन्त्रों में अनेकत्र इतिहास तथा स्तुति का मिश्रण है।[1] वे मन्त्रगत इतिहासों अथवा आख्यानों के रहस्य का प्रकाशन करते हुए कहते हैं कि मन्त्रगत अर्थ का सम्यक् दर्शन करने वाले ऋषि की भी इस आख्यानांश के संयोग के लिए प्रीति होती है।[2] मन्त्र में इस इतिहासात्मक अथवा आख्यानात्मक अंश का उद्देश्य प्रतिपिपादयिषित अथवा सम्प्रेषणीय अर्थ के सम्प्रेषणार्थ मनोहारिता की सृष्टि है। आचार्य यास्क के वचन से यह सुस्पष्ट है कि ऋषि द्वारा दृष्ट अर्थ (मन्त्रगत प्रतिपाद्य) अन्य होता है तथा उसके साथ मनोरम सम्प्रेषाणार्थ संयुक्त इतिहास अथवा आख्यायिका आदि मुख्यार्थ के रूप में उससे सर्वथा भिन्न। इतिहास अथवा आख्यान मूल मन्त्र का अङ्ग है, उसे ऋषिकर्तृक स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि इतिहास अथवा आख्यान तत्त्व से संयुक्त मन्त्र का ऋषि-दर्शन से पूर्व प्राग्भाव होता है। आचार्य यास्क के मत में धर्म अर्थात् सत्यतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति ऋषि हैं।[3] स्कन्दस्वामी ने अतीन्द्रिय तथा असंवेद्य धर्म के साक्षात्कार के असम्भव होने से इस प्रसङ्ग में 'धर्म' शब्द का तात्पर्य मन्त्र तथा ब्राह्मण ग्रहण किया है।[4] आचार्य दुर्ग 'ऋषि' शब्द को ऋष् (दर्शने) से निष्पन्न मानते हुए यह अभिप्राय व्यक्त करते हैं कि मन्त्रों का विविध अवसरों पर विविध कर्मों में विनियोग करके उनसे उत्पन्न होने वाले फलों का साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति ऋषि हैं।[5] स्वयं यास्क भी 'ऋषि' शब्द का निर्वचन दर्शनार्थक √ ऋष् से मानते हैं।[6]

1. निरुक्त 4.6: त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रमृङ्मश्रं भवति।
2. तदेव 10.10, 46: ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।
3. तदेव 1.20: साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः।
4. निरुक्तटीका 1.20 (भाग 1, पृ० 113-14): धर्मस्यातीन्द्रियत्वात् साक्षात्करणस्यासम्भवात् धर्मशब्देनात्र तदर्थं मन्त्रब्राह्मणमुच्यते। तत्साक्षात्कृतो धर्मो यैस्ते साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः।
5. दुर्गवृत्ति, नि० 1.20 (पुणे-आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क 88, 1921, भाग 1, पृ० 114): ऋषन्ति अमुष्मात् कर्मणः एवमर्थवता मन्त्रेण संयुक्तादमुना प्रकारेण एवंलक्षणः फलविपरिणामो भवति इति पश्यन्ति त ऋषयः।
6. निरुक्त 2.11: ऋषिर्दर्शनात्। तुलनीय 7.3: एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रद्रष्टयो भवन्ति।

उन्होंने इस प्रसङ्ग में आचार्य औपमन्यव का मत उद्धृत किया है, जिसके अनुसार ऋषियों ने स्तोमों (मन्त्रों) का दर्शन किया।[1] यहीं आचार्य यास्क ने एक ब्राह्मणवचन भी उद्धृत किया है, जिसमें 'ऋषि' शब्द का गत्यर्थक ऋष् से निष्पन्न मानते हुए कहा गया है कि ऋषियों का ऋषित्व इसमें है कि तपस्यमान (समाधिस्थ) इनके पास स्वयम्भु ब्रह्म (अकृतक, स्वरूपतः नित्य मन्त्र) आया।[2] मन्त्र ऐसी वाणी है जो ब्रह्मभूत[3] ऋषियों की आन्तर गुहा में प्रविष्ट हुई।[4] अतः ऋषि मन्त्र द्रष्टा हैं, मन्त्र कर्ता नहीं।[5] इस प्रकार मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान आदि भी मूल मन्त्र का भाग है। यह भी स्पष्ट है कि मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान तत्त्वतः औपचारिक, अर्थवादात्मक, आलङ्कारिक तथा प्रतीकात्मक है; वास्तविक व्यक्ति-विशेषों से सम्बद्ध विवरण नहीं। आचार्य दुर्ग वेद के प्रसङ्ग में इतिहास का लक्षण करते हुए कहते हैं कि जब भाग्यवश उदित अर्थ के अवभासनार्थ किसी आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ का आख्यान किया जाता है तो उसे 'इतिहास' कहते हैं; वह सब प्रकार का इतिहास नित्य होता है, उसका स्वार्थ (मुख्यार्थ, वाच्यार्थ, साक्षात्सङ्केतितार्थ) विवक्षा का विषय नहीं होता; उसका तात्पर्य तो उस अर्थ के प्रतिपत्ताओं (बोद्धाओं) के प्रति उपदेश में होता है।[6] आचार्य वररुचि भी मन्त्रगत आख्यानों को औपचारिक ही मानते हैं, क्योंकि वैसा न मानने से वेद के नित्यत्व का विरोध होता है।[7] नित्य वेद में अनित्य पदार्थों, व्यक्तिविशेषों आदि का वर्णन कैसा? स्कन्दस्वामी के मत में आख्यानस्वरूप मन्त्रों की योजना यजमान तथा नित्य पदार्थों

1. तदेव 2.11: स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः।
2. तत्रैवः तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वम्भ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। तुलनीय तैत्तिरीयारण्यक 2.9: अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वपम्भ्वानर्षत्। तद् ऋषयोऽभवन्। शतपथ-ब्राह्मण (6.1.1.1) में 'ऋषि' शब्द को √ रिष् (तप करना) से निष्पन्न माना गया है: श्रमेण तपसा अरिषन्त तस्माद् ऋषयः।
3. तैत्तिरीयारण्यक 2.9.2: ब्रह्मण सायुज्यमृषयोऽगच्छन्।
4. ऋ० 10.71.3: तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
5. ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन के 'यस्य वाक्यं स ऋषिः' (2.4) लक्षण में भी मन्त्र के साथ ऋषि का द्रष्टृत्वसम्बन्ध ही मान्य है। द्रष्टव्य ऐतरेय ब्राह्मण 6.1 (ऋषिर्मन्त्रकृत्) पर सायणकृत भाष्यः ऋषिरतीन्द्रियार्थ द्रष्टा मन्त्रकृत्, करोतिधातुस्तत्र दर्शनार्थः तैत्तिरीयारण्यक 4.11 पर भट्टभास्करकृत भाष्यः मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्।
6. निरुक्त 10.16 पर वृत्तिः यः कश्चिदाध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिको वार्थ आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। स पुनरितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थ-स्तदर्थप्रतिपत्तृणा मुपदेशपरत्वात्।
7. निरुक्तसमुच्चयः (सं०पं० युधिष्ठिर मीमांसक, अजमेरः प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, द्वितीय संस्करण, संवत् 2022), पृ० 142: औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।

में कर लेनी चाहिए; मन्त्रों में आख्यानसमय औपचारिक है, परमार्थतः नित्यपक्ष ही सत्य है।[1] शबरस्वामी का भी मत है कि असत् (अघटित, कल्पित) वृत्तान्त का अन्वाख्यान स्तुति द्वारा उसकी प्रशंसा को व्यक्त करने के लिए किया जाता है; वृत्तान्त का अन्वाख्यान वृत्तान्तज्ञापन के निमित्त न होकर प्ररोचनामात्र के लिए होता है।[2] अतः मन्त्रगत इतिहास अथवा आख्यान प्रतिपत्ताओं के प्रति किसी आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक नित्य अर्थ के उपदेश के निमित्त प्रतीकमात्र हैं, मन्त्रगत प्राप्य आपाततः व्यक्तिनाम प्रतीत होने वाले शब्द भी उस नित्य अर्थ के प्रतीक हैं, किन्हीं व्यक्तियों के वाचक नहीं। मन्त्रभाग में उपलब्ध ये इतिहास अथवा आख्यान परवर्ती वैदिक ग्रन्थों यथा ब्राह्मणों, उपनिषदों, आचार्य यास्कविरचित 'निरुक्त', 'शौनकीय', 'बृहद्देवता', कात्यायनकृत, 'ऋक्सर्वानुक्रमणी', षड्गुरुशिष्यरचित, 'वेदार्थ-दीपिका', 'सायणकृत भाष्यों, द्याद्विवेदकृत 'नीतिमञ्जरी' आदि में पल्लवित एवं विकसित हुए। तदनन्तर आर्षकाव्यों (वाल्मीकि-रामायण तथा महाभारत), पुराणों और अश्वघोषरचित 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरानन्द', कविकुलगुरु कालिदास-प्रणीत 'विक्रमोर्वशीय', 'कुमारसम्भव' एवं 'रघुवंश', भारविकृत 'किरातार्जुनीय', माघ-रचित 'शिशुवालवध', श्रीहर्षप्रणीत 'नैषधीयचरित' आदि लौकिक संस्कृत-साहित्य के प्रमुख काव्यों में भी यह परम्परा निरन्तर विकसित होती रही। वैदिकोत्तर काल में यद्यपि इन इतिहासों अथवा आख्यानों का वास्वविक रहस्य भले ही लोकमानस से तिरोहित हो गया हो तथापि उनकी उपदेशात्मकता कभी भी दृष्टि से ओझल नहीं हुई; कविप्रतिभा ने उन्हें उत्तरोत्तर हृदयग्राही शैली में प्रस्तुत किया। ये वैदिक इतिहास अथवा आख्यान ऋषियों, देवताओं, राजाओं, असुरों एवम् अन्य तत्त्वों से सम्बद्ध हैं।

मनु के अनुसार हिरण्यगर्भरूप प्रजापति ने जगत् के सब पदार्थों के नाम, पृथक्-पृथक् कर्म तथा पृथक्-पृथक् संस्थाओं का निर्माण वेद शब्दों ही से किया।[3] आचार्य शङ्कर भी मानते हैं कि जगत् के प्राणियों के नाम, रूप तथा कर्म-प्रवर्तन[4]

1. निरुक्तटीका 2.12: एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्त्तव्या। एषः शास्त्रे सिद्धान्तः। औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। परमार्थे नित्यपक्ष इति सिद्धम्।
2. जैमिनिसूत्र 1.2.10 पर भाष्यः असद् वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन प्रशंसाया गम्यमानत्वात्; 1.2.30 पर भाष्यः वृत्तान्तान्वाख्यानं न वृत्तान्तज्ञापनाय। किं तर्हि? प्ररोचनायैव। इस विषय में द्रष्टव्य मानसिंह, पुरोवाक, पं. शिवशङ्कर काव्यतीर्थ, वैदिक-इतिहासार्थ-निर्णय (सं० ब्रह्मदेव विद्यालङ्कार, कुरुक्षेत्रः सत्यार्थप्रकाशन न्यास, 2009)
3. मनुस्मृति 1.21: सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे॥
4. ब्रह्मसूत्र 1.3.28 पर भाष्यः नाम रूपं च भूतानां कर्म्मणाञ्च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्म्ममे स महेश्वरः॥

और ऋषियों के नाम वेद से ही स्थिर किए गए है।[1] वेदान्त की दृष्टि से वेद नित्य हैं।[2] मीमांसा भी वेद में अनित्य इतिहास नहीं मानती।[3] इससे स्पष्ट है कि जगत् के अनित्य प्राणियों एवं पदार्थों के नाम भी आध्यात्मिक, आधिदैविक अथवा आधिभौतिक नित्य तत्त्वों के अभिव्यञ्जक नित्य वेदशब्दों से ग्रहण किए गए हैं। अतः लोक ने इन्हें वेद से ग्रहण किया है; वेद ने लोक से नहीं। परवर्ती काल में शब्दों का समानता के आधार पर भ्रान्तिवश अनित्य प्राणियों एवं पदार्थों का उल्लेख नित्य वेद में, विशेषतः तद्गत इतिहास अथवा आख्यान से सम्बद्ध अंश में, स्वीकार कर लेने से वेदव्याख्या के क्षेत्र में ऐतिहासिक, आख्यानविद् अथवा नैदान सम्प्रदाय का उदय हो गया।

वेद में देवतावाची नाम भी प्रतीकात्मक प्रतीत होते हैं। अग्नि प्राण;[4] अदिति अग्नि[5] तथा वाक्;[6] अश्विनौ तमोभाग (मध्यम) तथा ज्योतिर्भाग आदित्य;[7] अर्यमा आदित्य;[8] इन्द्र आदित्य[9], ब्रह्म[10], हृदय[11] तथा वाक्;[12] उर्वशी विद्युत्;[13] दक्ष आदित्य[14] तथा प्राण;[15] बृहस्पति बृहती अर्थात् वाक् का स्वामी;[16] ब्रह्मणस्पति ब्रह्म

---

1. ब्रह्मसूत्र 1.3.30 पर भाष्यः ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥
2. ब्रह्मसूत्र 1.3.28-29
3. मीमांसासूत्र 1.1.27-31
4. नारदपरिव्राजकोपनिषद् 3.77: अग्निर्हि प्राणः, जाबालोपनिषद् 4.2: अग्निर्ह वै प्राणः।
5. काठकसंहिता 24.4.6
6. शतपथब्राह्मण (मा०) 6.5.2.20
7. यास्क, निरुक्त 12.1: तमोभाग हि मध्यमो ज्योतिर्भाग आदित्यः।
8. तैत्तिरीयसंहिता 2.3.4.1: असौ वा आदित्योऽर्यमा।
9. मैत्रायणीसंहिता 1.10.16: असौ वा आदित्य इन्द्रो रश्मयः क्रीडयः।
10. कौषीतकि ब्राह्मण 6.14: तस्मादाहेन्द्रो ब्रह्मेति; हेमचन्द्र, शब्दानुशासन 7.1.174; मैत्रायणीसंहिता 14.7। तुलनीय ऋ० 1.164.46; 3.53.8; 6.47.18
11. शतपथब्राह्मण (मा०) 12.9.1.15; हृदयमेवेन्द्रः
12. जैमिनीयोपनिषद् 1.11.1,2: अथ य इन्द्रस्सा वाक्
13. वररुचि, निरुक्तसमुच्चय, पृ० 85: उर्वशी विद्युत् उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमश्नुते दीव्यत इति उर्वशी; स्कन्दस्वामी, निरुक्तटीका 5.14
14. यास्क, निरुक्त 11.23: आदित्यो दक्ष इत्याहुरादित्यमध्ये च स्तुतः
15. जैमिनीय ब्राह्मण 1.151;3.62, 95,192: प्राणा वै दक्षाः
16. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.3.20: वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः

अर्थात् वाक् का स्वामी;[1] भग आदित्य;[2] यम अग्नि[3], आदित्य[4] तथा वायु;[5] यमी पृथिवी[6], रात्रि[7], उषा[8] तथा माध्यमिका वाक;[9] वसु आदित्यरश्मियाँ;[10] वाक् प्राण;[11] विवस्वान् आदित्य;[12] विश्वकर्मा आदित्य[13], इन्द्र[14] तथा वायु;[15] रुद्र अग्नि;[16] सरण्यू रात्रि;[17] और सरमा मध्यमस्थाना वाक्[18] है। 'ऋग्वेद[19]' के अनुसार इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि सभी देवता एक सद्रूप आत्मा ही के अपर अभिधान हैं।

कतिपय देवता तो ऋषि भी है: अग्नि, अदिति दाक्षायणी, अनिल वातायन, अरिष्टनेमि तार्क्ष्य, अश्विनौ, आदित्य, इन्द्र, इन्द्र की माताएँ तथा स्नुषा, इन्द्राणी, शची पौलोमी, नारायण, उत्तरनारायण, प्रजापति, बृहस्पति, ब्रह्म स्वयम्भु तथा ब्रह्मा, यमयमी, वरुण, वाक्, विवस्वान्, विश्वकर्मा, विश्वावसु (देवगन्धर्व), विष्णु प्राजापत्य, सरस्वती,

---

1. सैव 1.3.21: वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः
2. यास्क, निरुक्तः 12.14
3. तदेव 10.20: अग्निरपि यम उच्यते; शतपथब्राह्मण (मा०) 7.2.1.10: अग्निर्वै यमः।
4. यास्क, निरुक्त 12.29: यमो रश्मिभिरादित्यः; शतपथब्राह्मण (मा०) 14.1.3.4: एषो वै यमो य एष तपति। एष हीदं सर्वं यमयति। एतेनेदं सर्वं यतम्।
5. शतपथ ब्राह्मण (मा०) 14.2.2.11: अयं वाव यमो योऽयं पवते; स्कन्दस्वामी, निरुक्तटीका 10.19: यमो मध्यमस्थानो वायुः।
6. शतपथब्राह्मण (मा.) 5.4.1.23: इयं पृथिवी यमी।
7. स्कन्दस्वामी, निरुक्तटीका 5.2: यम्यपि रात्रि सोच्यत इति।
8. दुर्ग, वृत्ति, निरुक्त 11.34
9. वररुचि, निरुक्तसमुच्चय, पृ० 88: यमी मध्यमा वाक्; दुर्ग, वृत्ति, निरुक्त 11.34
10. यास्क, निरुक्त 12.41: वसव आदित्यरश्मयः।
11. मैत्रायणीसंहिता 3.2.8; शतपथब्राह्मण (मा.) 1.1.2.14: प्राणो वै वाक्।
12. यास्क, निरुक्त 12.11
13. ऋ० 10.170.4
14. वही 8.98.2
15. स्कन्दस्वामी तथा दुर्ग, निरुक्त 10.26।
16. यास्क, निरुक्त 10.7: अग्निरपि रुद्र उच्यते।
17. तदेव 12.11
18. मैत्रायणीसंहिता 4.6.4: वाग् वै सरमा; स्कन्दस्वामी, निरुक्तटीका, 11.25 (मध्यमावाक्)।
19. ऋ० 1.164, 46: इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ द्रष्टव्य यास्क, निरुक्त 7.19: इममेवाग्निं महान्तमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति-इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्य च गरुत्मन्तम्। तुलनीय ऋ० 3.55.19: महद्देवानामसुरत्वमेकेम् 3 शतपथब्राह्मण (मा.) 4.2.2.1: सर्व...ह्ययमात्मा; नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् 7.4: आत्मैवेद सर्वभ।

सविता, हिरण्यगर्भ आदि।[1] कुछ देवताओं के विशेषण ऋषिनामों से गृहीत हैं।[2]

वेदसम्बद्ध ऋषिनाम भी वैयक्तिक नहीं हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्राण ही ऋषि हैं।[3] 'काठकसंहिता', 'ऐतरेय-ब्राह्मण', 'जैमिनीय-ब्राह्मण' तथा 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के अनुसार सप्त प्राण ही सप्तर्षि है।[4] छान्दोग्योपनिषद् में नासिक्य, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन तथा मुख्य (मुखगत) इन विभिन्न प्राणों का उद्गीथ (ओङ्कार) के रूप में ध्यान करने का निर्देश किया है।[5] 'काठकसंहिता' तथा 'ताण्ड्य-महाब्राह्मण' में प्राणों को (विभिन्न इन्द्रियों में अवस्थित होने से) इन्द्रियरूप माना गया है।[6] अतः 'शतपथ-ब्राह्मण' में प्राण को वसिष्ठ, मन को भरद्वाज, श्रोत्र को विश्वामित्र तथा वाक् (जिह्वा) को विश्वकर्मा ऋषि स्वीकार किया गया है।[7] बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार भी दो श्रोत्र गोतम तथा भरद्वाज हैं, दो चक्षु विश्वामित्र तथा जमदग्नि, दो नासिकाएँ वसिष्ठ तथा कश्यप, और वाक् (जिह्वा) अत्रि है।[8], ऐतरेयारण्यक की दृष्टि से प्राणों ही को पुरुषों द्वारा सौ वर्ष तक धारण कर अर्चना किए जाने से 'शतर्ची' और सबके मध्य स्थित हो उन्हें धारण करने से 'माध्यम' कहा जाता है। गृत्स अर्थात् प्राण तथा मद अर्थात् अपान रूप होने से प्राण को गृत्समद; समग्र विश्व का मित्र होने वाले प्राण को विश्वामित्र; देवों के द्वारा अपने में सर्वाधिक वाम (वननीय) माने जाने वाले प्राण को वामदेव; इस समस्त (जगत्) की पाप से रक्षा करने वाले प्राण को अत्रि; वाज अर्थात् प्रजाओं का भरण-पाषण करने वाले प्राण को भरद्वाज; देवों में समस्त इन्द्रियों के सर्वाधिक

---

1. विस्तरहेतु द्रष्टव्य कपिलदेव शास्त्री, वैदिक ऋषिः एक परिशीलन (कुरुक्षेत्रः कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय, 1978), पृ० 125-61
2. कपिलदेव शास्त्री, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 185-87
3. शतपथब्राह्मण (मा.) 7.2.3.5: प्राणा ऋषयः; 8.4.1.5: प्राणा उ वा ऋषयः। तुलनीय ऐतरेयब्राह्मण 2.27; शतपथब्राह्मण (मा.) 6.1.1.1; 8.6.1.5;14.5.2.5।
4. काठकसंहिता 86.2: ये सप्त शीर्षण्या प्राणा आसंस्ते सप्तर्षयोऽभवन्: ऐतरेयब्राह्मण 3.3: सप्त वै शीर्षन् प्राणाः; जैमिनीयब्राह्मण 2.27: त इमे सप्तर्षयः प्रतिहिता प्राणा एव; बृहदारण्यकोपनिषद् 2.2.3: 'तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे' इति प्राणा वा ऋषयः, प्राणानेतदाह।
5. छान्दोग्योपनिषद् 1.2.1-7
6. काठकसंहिता 8.1; ताण्ड्यमहाब्राह्मण 2.14.2;22.4.3: प्राणा इन्द्रियाणि।
7. शतपथब्राह्मण (मा.) 8.1.1.6: प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः, मनो वै भरद्वाज ऋषिः, श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः, वाग्वै विश्वकर्मा ऋषिः।
8. बृहदारण्यकोपनिषद् 2.2.4: इमावेव गोतमभरद्वाजौ, अयमेव गोतमः, अयं भरद्वाजः, इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी, अयमेव विश्वामित्रः, अयं जमदग्निः; इमावेव वसिष्ठकश्यपौ, अयमेव वसिष्ठः, अयं कश्यपः; वागेवात्रिः, वाचा ह्यन्नमद्यते, अत्रिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति; सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद।

आच्छादक प्राण को वसिष्ठ; सबमें प्रगत (प्राप्त) होने वाले को प्रगाथ; सबको पवित्र करने वाले को पावमान्य; क्षुद्र से क्षुद्र जीव में विद्यमान होने वाले प्राण को 'क्षुद्र सूक्त' और महत् से महत् जीव में विद्यमान होने वाले प्राण को 'महासूक्त' कहा जाता है।[1] इस प्रकार ये समस्त ऋषि प्राणरूप ही हैं। आङ्गिरस भी अङ्गों का रस (सारतत्त्व) होने के कारण प्राण ही है।[2] अन्य ऋषियों में अङ्गिरा प्राण;[3] त्रित त्रिस्थान इन्द्र;[4] देवापि विद्युत्;[5] मनु आयु;[6] दध्यङ् वाक्;[7] पराशर तथा परुच्छेप इन्द्र;[8] और भृगु वायु, जल तथा चन्द्रमा[9] हैं। विश्वामित्र को प्राण के अतिरिक्त भगवान् आदित्य[10] तथा वाक्[11] भी माना गया है। शौनक ने अङ्गिरा, ऋभु, मनु, दध्यङ् तथा अथर्वा

1. ऐतरेयारण्यक 2.2.1: एष इमं लोकमभ्यार्चत् पुरुषरूपेण य एष तपति। प्राणो वाव तदभ्यार्चत्। प्राणो ह्येष य एष तपति। तं शतं वर्षाण्याभ्यार्चत्। तस्माच्छतं वर्षाणि पुरुषायुषो भवन्ति। तं यच्छतं वर्षाण्यभ्यार्चत् तस्मात् शतर्चिनः। तस्माच्छतर्चिन इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं स इदं सर्वं मध्यतो दधे यदिदं किञ्च। स यदिदं सर्वं मध्यतो दधे यदिदं किञ्च तस्मान्माध्यमास्तस्मान्माध्यमा इत्याचक्षते। एतमेव सन्तम्। प्राणो वै गृत्सोऽपानो मदः। स यत् प्राणो गृत्सोऽपानो मदस्तस्मात् गृत्समदः। तस्माद् गृत्समद इत्याचक्षते। एतमेव सन्तम्। तस्येदं विश्वं मित्रमासीद् यदिदं किञ्च। तद्यदस्येदं विश्वं मित्रमासीद्यदिदं किञ्च। तस्माद्विश्वामित्रः। तस्माद् विश्वामित्र इतयाचक्षते। एतमेव सन्तं तं देवा अब्रुवन् अयं वै नः सर्वेषां वाम इति। तं यद्देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वाम इति तस्माद्वामदेवस्तस्माद्वामदेव इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं स इदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत यदिदं किञ्च। स यदिदं सर्वं पाप्मनोऽत्रायत यदिदं किञ्च तस्मादत्रयस्तस्मादत्रय इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं एष उ एव बिभ्रुद्वाजः प्रजाः वै वाजस्तं एष बिभर्त्ति यद्बिभर्ति तस्माद् भरद्वाजस्तस्माद् भरद्वाज इत्यान्वक्षते। एतं सन्तं देवा अब्रुवन्नयं वै नः सर्वेषां वसिष्ठः... तस्माद्वसिष्ठः। स इदं सर्वममिप्रागात्...तस्मात्प्रगाथः। स इदं सर्वमभ्यपवयत...तस्मात्पावमान्यः। सोऽब्रवीदहमिदं सर्वमसानि यच्च क्षुद्रं यच्च महदिति ते क्षुद्रसूक्ताश्चाभवन्महासूक्ताश्च।
2. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.3.19: सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः। ... प्राणो हि वा अङ्गानां रसः। तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात् प्राण उत्क्रामति तदेव शुष्यति। एष हि वा अङ्गानां रसः।
3. शतपथब्राह्मण (मा.) 6.5.2.3.4: प्राणो वा आङ्गिराः।
4. यास्क, निरुक्त 9.26: त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः; उवट तथा महीधर, भाष्य, वाजसनेयिसंहिता 34.7: त्रिस्थान इन्द्रः। स्कन्दस्वामी (निरुक्तटीका 9.25) के मत में वायुरूप, बलकृतिरूप तथा सवनसम्बन्ध से त्रिस्थानत्व।
5. स्कन्दस्वामी, निरुक्तटीका 2.11
6. कौषीतकिब्राह्मण 26.17: आयुर्वै मनुः।
7. शतपथब्राह्मण (मा.) 6.4.2.3: वाग्वै दध्यङ्डाथर्वणः।
8. यास्क, निरुक्त 6.30: इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते। परा शातयिता यातूनाम्; कौषीतकिब्राह्मण 23.4: इन्द्र उ परुच्छेपः।
9. गोपथब्राह्मण 1.2.8: वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः।
10. स्कन्दस्वामी, निरुक्तटीका 2.27: सर्वमित्रो भगवानादित्यः।
11. कौषीतकिब्राह्मण 10.5: वाग्वै विश्वामित्रः।

सदृश ऋषियों को देवकोटि में माना है।[1] कुछ सूक्तों के ऋषि मानवेतर प्राणी हैं; अर्बुद काद्रवेय सर्प (ऋ० 10.94), ऊर्ध्वग्रावा आर्बुदि (ऋ० 10.175), कपिञ्जल (अथर्व० 2.27;7.95-96), कपोत नैर्ऋत (ऋ० 10.165), काङ्कायन (अथर्व० 6. 70;11.9), गोधा (ऋ० 10.134.7), जरत्कर्ण ऐरावत सर्प (ऋ० 10.76), मृग (साम० 1828-30), वश अश्व्य (ऋ० 8.46), शाङ्र्ग पक्षी (ऋ० 10.142), सरमा देवशुनी (ऋ० 10.108), साम्मद मत्स्य (ऋ० 8.67), सार्पराज्ञी (ऋ० 10.189) तथा तार्क्ष्यपुत्र सुपर्ण (ऋ० 10.144)[2]।

कतिपय स्थलों में ऋषि तथा देवता दोनों अभिन्न हैं;[3]

अत्रिः	–	ऋ० 5.40.6-9
इन्द्रः	–	ऋ० 10.48-50; वा०सं० 18.68
दक्षिणाः	–	ऋ० 10.107 (वैकल्पिक)
मन्युः	–	ऋ० 10.83-84
मातृनामाः	–	अथर्व० 4.20; 8.6
वेनः	–	ऋ० 10.123
रक्षोहाः	–	ऋ० 10.162
श्रद्धाः	–	ऋ० 10.151

कुछ ऋषियों के विशेषण देवतासम्बन्धी हैं।[4]

वैदिक मन्त्रों में कतिपय शब्द ऐसे प्रयुक्त हुए हैं जो प्रसिद्ध व्यक्तिनामों की भ्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं; उदाहरणार्थ-सुदास् (ऋ० 7.20.2;7.30.10, 64.3 आदि), पुरुरवा (ऋ० 10.95.2,5,7,11,15), उर्वशी (ऋ० 10.95.10.17), देवापि (ऋ० 10. 98.5,6,8), शन्तनु (ऋ० 10.98.1,7), पुलस्ति/पुलस्तिन् (पुलस्ति-तैत्तिरीय-संहिता 4.5.9.1; वाजसनेयि-संहिता 16.43; पुलस्तिन्-काठक संहिता 17.15), दशरथ (ऋ० 1.126.4), राम (ऋ० 10.93.14), सीता (ऋ० 4.47.6,7; अथर्व० 11.3.12; तैत्तिरीय-संहिता 5.2.4.5;5.6.2.5; काठक संहिता 20.3), लक्ष्मण्य (ऋ० 5.33.10), विभीषण (ऋ० 5.34.6), वातापि (ऋ० 1.187.8), पराशर (ऋ० 7.104.21), अम्बा (ऋ० 2.41.16), अम्बिका (वाजसनेयि-संहिता 3.57; तैत्तिरीय-संहिता 1.8.61), अम्बालिका (वाजसनेयि-संहिता 23.18; मैत्रायणी संहिता 3.12.20), कृष्ण (ऋ० 6.

1. बृहद्देवता 1.127-28 तथा 2.12
2. विस्तृत विवरणार्थ द्रष्टव्य कपिलदेव शास्त्री, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 120-24
3. वही, पृ० 188
4. वही, पृ० 162-84

9,1), अर्जुन (ऋ० 3.44.5;9, 69.4; 1.122.5; 6.9.1; 7.69.4), घनञ्जय (ऋ० 3. 42.6), परिक्षित् (अथर्व० 20.12.6), अजातशत्रु (ऋ० 5.34.1) आदि। इनमें 'सुदास्' का अर्थ आचार्य यास्क ने 'कल्याणदान' किया है[1] तथा आचार्य सायण ने भी 'कल्याणदान' (ऋ० 7.20.2 भाष्य) तथा 'शोभनदान' (ऋ० 7.30.20 भाष्य) अर्थ किया है, कोई राजविशेष नहीं। 'पुरुरवा' वररुचि के मत में मध्यमस्थानी वायु है और 'उर्वशी' विद्युत्;[2] स्कन्दस्वामी भी उर्वशी को विद्युत् ही मानते हैं।[3], देवापि को स्कन्दस्वामी विद्युत् तथा 'शन्तनु' को वृष्टिरूप जल स्वीकार करते हैं।[4], 'पुलस्ति'/ पुलस्तिन्, मामूली जूड़े के रूप में केश बाँधने वाले व्यक्ति[5] के अर्थ में प्रयुक्त है। 'दशरथ' का अर्थ है 'दश रथों की-श्रेणि' (श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)। 'राम' को सायण तथा पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने एक राजा माना है (दाशरथि राम नहीं), जो संदिग्ध है।[6] 'सीता' हल की रेखा (खूड़) है (दाशरथि राम की पत्नी नहीं)। 'लक्ष्मण्य' का अर्थ है-उत्तम लक्षणों/ चिह्नों वाले अश्व (श्रीमाद दामोदर सातवलेकर)[7]। 'विभीषण' भयजनक (इन्द्र) के अर्थ में प्रयुक्त है (रावणभ्राता विभीषण नहीं)। 'वातापि' वात अर्थात् प्राणों से निर्वाह करने वाला शरीर है[8] (एतन्नामक कोई राक्षस नहीं)। 'पराशर' रक्षसों को दूर करने वाला इन्द्र है (कृष्ण द्वैपायन व्यास के पिता पराशर नहीं)। 'अम्बा', 'अम्बिका' तथा 'अम्बालिका' ये तीनों शब्द 'माता' के अर्थ में प्रयुक्त हैं (महाभारतकालीन काशिराज की तीन पुत्रियों के नाम नहीं)। 'कृष्ण' 'काले रंग से युक्त' अर्थ में प्रयोग किया गया है (ऋ० 6.9. 1 में 'अहश्च कृष्णम्'=काला दिन अर्थात् रात्रि); वासुदेव कृष्ण से यहाँ तात्पर्य नहीं है। 'अर्जुन' का अर्थ है 'श्वेत' (ऋ० 6.9.1 में 'अहरर्जुनं च'=श्वेत दिन अर्थात् सूर्य के प्रकाश से युक्त श्वेत दिन)। 'धनञ्जय' धन जीतने वाले इन्द्र के लिए प्रयुक्त

---

1. निरुक्त 2.24: सुदाः कल्याणदानः।
2. निरुक्तसमुच्चय, पृ० 85: पुरुरवा मध्यमस्थानो वाय्वादीनामेकत्वात् पुरु रौतीति पुरुरवाः; उर्वशी विद्युत् उरु विस्तीर्णमन्तरिक्षमश्नुते दीव्यत इति उर्वशी।
3. निरुक्तटीका 5.14।
4. सैव 2.12: मध्यमप्रभवत्वात् देवापिर्विद्युत्, शन्तनुरुदकं वृष्टिलक्षणम्
5. द्रष्टव्य सूर्यकान्त, वैदिक कोश (वाराणसीः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1963), पृ० 307
6. द्रष्टव्य सूर्यकान्त, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 446
7. आचार्य सायण इसे लक्ष्मण का पुत्र (ध्वन्य नामक राजा) मानते हैं: ध्वन्यस्य ध्वन्यनामकस्य लक्ष्मण्यस्य लक्ष्मणपुत्रस्य राज्ञः।
8. आचार्य सायणः वातेन प्राणेन आप्नोति स्वनिर्वाहमिति वातेनाप्यायत इति वा वातापि शरीरम्। कौषीतकि ब्राह्मण 27.4 के अनुसार वातापि इन्द्र हैः इन्द्र उ वै वातापिः। स हि वातमाप्त्वा शरीराण्यर्हन् प्रतिप्रैति।

है (कौन्तेय अर्जुन नहीं)। 'परिक्षित्' 'ऐतरेय-ब्राह्मण' के अनुसार अग्नि तथा 'गोपथ-ब्राह्मण' के अनुसार संवत्सर[1] है (प्रसिद्ध परीक्षित् नहीं)। 'अजातशत्रु' पद भी अनुत्पन्न शत्रु वाले इन्द्र के लिए प्रयुक्त है। अतः इन शब्दों को ऐतिहासिक व्यक्तिविशेषों के नामों के रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार 'अथर्ववेद' (10.2.31) में आठ चक्रों (चौराहों), नौ द्वारों और स्वर्गसदृश, ज्योति से आवृत राज प्रासाद से युक्त देवपुरी अयोध्या का वर्णन है;[2] किन्तु किसी भी भाष्यकार ने उसे श्रीराम की अयोध्या मानकर व्याख्या नहीं की। वस्तुतः यहाँ देहपुरी का वर्णन है। यह मानवशरीर ही अयोध्या नगरी है जिसके विभिन्न अवयवों में विविध देवता अवस्थित हैं; अतः यह देवपुरी है। इसमें आठ चक्र हैं-मूलाधार (गुदा), स्वाधिष्ठान (उपस्थ), मणिपूर (नाभि), अनाहत (हृदय), विशुद्ध (कण्ठ), ललित (जिह्वा), आज्ञा (भ्रूमध्य) तथा सहस्रार (शिर)। इसके नौ द्वार हैं-दो कर्णछिद्र, दो नासिका छिद्र, दो नेत्र, एक मुख तथा दो अधोद्वार (पायु तथा उपस्थ); अतः 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (3.18) में शरीर को नवद्वार पुर कहा गया है।[3] इस अयोध्या (अपराजिता) नगरी में ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का वास है।

'ऋग्वेद' में सिन्धु, गङ्गा, यमुना, सरस्वती, विपाट् (व्यास), शुतुद्री (सतलुज), परुष्णी (इरावती), असिक्नी (काली नदी), मरुद्वृधा (चेनाव की सहायक), वितस्ता (झेलम), सुषोमा, आर्जीकीया (चेनाव-चन्द्रभाग) क्रमु, गोमती, तुष्टामा, सुसर्तू, रसा, श्वेती, कुभा, मेहत्नु तथा सरयु नदियों का वर्णन है।[4] सम्भवतः ये लोकप्रसिद्ध नदियाँ न होकर शरीरस्थ नाडियाँ हैं। गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि को 'हठयोग' तथा 'शिवस्वरोदय' आदि ग्रन्थों में शरीर की नाडियाँ माना गया है।[5] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि को इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म तथा जाठराग्नि की नाडियाँ माना है।[6] अतः इन्हें नदी विशेष की अपेक्षा इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा आदि नाडियों के प्रतीकरूप में मानना ही समीचीन होगा।

---

1. ऐतरेयब्राह्मण 6.32: अग्निर्वै परिक्षित्; अग्निर्हीमाः प्रजाः परिक्षेत्यग्निं हीमाः प्रजाः परिक्षियन्ति; गोपथब्राह्मण उ० 6.12: संवत्सरो वै परिक्षित् संवत्सरो हीदं सर्वं परिक्षियतीति।
2. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्या हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
3. नवद्वारे पुरे देही हꣳ सो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥
4. ऋ० 10, 75.5-6; 10.64.9; 3.33.1
5. हठयोग 3.11.10; शिवस्वरोदय, पृ० 374
6. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (सं० स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती, कुरुक्षेत्र, सिद्धयोगपीठ ट्रस्ट), ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषयः, पृ० 366: इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति। द्रष्टव्य नरसिंह पण्डा, "वेद में इतिहास और उसकी वास्तविकता-एक समीक्षात्मक अध्ययन", वैदिक आख्यानों की प्रकृति (चण्डीगढ़: महर्षि दयानन्द वैदिक शोधपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, 1992) पृ. 99

'महाभारत' के अनुसार इतिहास (महाभारतादि) तथा पुराणों से वेद का उपबृंहण करना चाहिए।[1] उपबृंहण का तात्पर्य है- श्रुतिप्रतिपन्न अर्थ का विशदीकरण[2]। वस्तुतः वेदार्थ अथवा वेद के तात्पर्य के विशदीकरण के लिए महाभारतादि तथा पुराणों में रोचक शैली तथा अर्थवादात्मक आख्यानों का आश्रय लिया गया है। अत एव इतिहास तथा पुराण को पञ्चम वेद स्वीकार किया गया है।[3] मन्त्रोत्तरवर्ती काल में मन्त्रगत नामपदों को प्रतीकात्मक न मानकर, लोक में उन नामपदों का प्रयाग देखकर, उन्हें ऐतिहासिक वैयक्तिक नाम अथवा लौकिक पदार्थविशेषों के नाम स्वीकार कर लिया गया। 'निरुक्त', 'बृहदेद्वता', 'वेदार्थदीपिका', 'नीतिमञ्जरी' आदि वैदिक ग्रन्थों और महाभारतादि इतिहास तथा पुराणों में यही स्थिति प्रतिबिम्बित है। वेदव्याख्यान के क्षेत्र में आधुनिक ऐतिहासिक पद्धति के मूल में भी यही स्थिति है, जिसका यथाशक्ति परिपोषण पाश्चात्त्य विद्वान् तथा तदनुगामी भारतीय वेदज्ञ करते आ रहे हैं। उपरिगत स्थितियों से यह सुतराम् स्पष्ट है कि यह पद्धति वेदमन्त्रों के मर्मभेदन में समर्थ नहीं हो सकती। तथाकथित नामपदों के आधार पर वैदिक ग्रन्थों आदि के कालनिर्णयार्थ इसका उपयोग ऐकान्तिकनिर्णय-साधक सिद्ध नहीं हो सकता।

✦✦✦

1. महाभारत (सं० गीताप्रेस, गोरखपुर), आदि 1.267: इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
2. श्रीभाष्य 2.1.1: उपबृंहणं च श्रुतिप्रतिपन्नार्थविशदीकरणम्।
3. भागवतपुराण 1.4.20: इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (12-26) July-December 2018 ISSN 2277-4351

ऋग्वेदीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि में पाश्चात्य विद्वानों का योगदान

डॉ० रूप किशोर शास्त्री

पूर्व सचिव–म.सा.रा.वे.वि० प्रतिष्ठान उज्जैन
(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार),
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, वेद विभाग, प्राच्य विद्या सङ्काय
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

अठारहवीं शताब्दी विशेषकर योरोपीय महाद्वीप के लिए पौर्वास्त्य वाङ्मय विषयक एक ज्ञानक्रान्ति के सूत्रपात की शताब्दी थी, जिसने योरोपीय चिन्तकों को विवश कर दिया था वैदिक संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय ज्ञान विज्ञान की विविध विधाओं व विद्याओं को जानने के लिए, वह भी कौतूहल भावोपेत उद्विग्नता के साथ। उद्देश्य व चिन्तन कुछ भी रहा हो उनका, परन्तु गहराई तक चमत्कृत किया उनके मस्तिष्क एवं मानस को। फलतः योरोप के मनीषी चिन्तक गहनता के साथ जुट गये संस्कृत भाषा एवं इस भाषा में ऋषियों, मुनियों, आचार्यों, टीकाकारों, भाष्यकारों, कवियों द्वारा रचित वाङ्मय के आलोडन–विलोडन में, वस्तुतः उन्होंने शोध के उत्कृष्ट मानकों के साथ उपलब्ध पाण्डुलिपियों व हस्तलिखित ग्रन्थों, अभिलेखों, प्रस्तर लेखों, स्तम्भलेखों तथा अन्यान्य उत्कीर्ण सामग्री पर, जो परिश्रम किया इन योरोपीय विप्रों ने, वह अपने में उनका ऋषित्व झलकता है, अपने प्रभूत परिश्रम के बल पर उपलब्ध पौर्वास्त्य वाङ्मय पर उनके द्वारा कृत सम्पादन, पाठालोचन, व्याख्याएं, टीकाएं अथवा अपने चिन्तन के आधार पर उनके द्वारा सृजित साहित्य को युगों युगों तक स्मरण किया जाता रहेगा। इन्होंने उक्त वाङ्मय की विषयवस्तु में आपातालनिमग्नपीवरतनु होकर उसका प्रकाशन ही नहीं अपितु संरक्षण करके इनको अमरत्व प्रदान किया है।

सर विलियम जोन्स के संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, गाथी एवं केल्टिन भाषाओं के तुलनात्मक व विश्लेषणपरक तत्कालीन योरोपीय जर्नल्स में प्रकाशित कतिपय लेखों ने योरोपवासियों का ध्यान क्या आकृष्ट किया, उन्होंने तो संस्कृताध्ययन एवं भाषाविज्ञान के क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। परिणामतः योरोपीय संस्कृत प्रेमियों को संस्कृताध्ययन की प्रस्थापनानन्तर प्राच्य भारतीय शास्त्रों के प्रति उनका आकर्षण

अत्यन्त द्रुतगति से व्यापक हुआ। यूरोप के देशों में अपेक्षाकृत जर्मनी में संस्कृत का अनुराग अत्यधिक प्रचलित हुआ एवं भारतीय प्राच्यविद्यासम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों में उन्नतकोटि का कार्य हुआ। यद्यपि सर विलियम जोन्स से पूर्व हेनरिख रॉथ (1620-1668), बार्थो लोमियस जीजेंवल्ग (1662-1719), एन्क्विटल डुपेरों (1731-1805) एवं कोएर्दू (1728-1797) इत्यादि संस्कृत विद्वान् हो चुके थे, जिन्होंने संस्कृताध्ययन, उपनिषदों एवं भाषाविज्ञान को अपना प्रिय विषय बनाया था, इन्होनें यूरोप में संस्कृताध्ययन की स्थापना करके अपने को पूर्णतः समर्पित कर दिया था। वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी से ही संस्कृतभाषा ने अपने वैभव एवं चमत्कार की पताका योरोप के क्षितिज में फहरा दी थी, परन्तु सर विलियम जोन्स द्वारा कोलकाता (भारत) में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश रहते रॉयल एशियाटिक सोसाईटी की स्थापना के अनन्तर संस्कृताध्ययन को जो विराट् आयाम मिला, उससे यूरोप में संस्कृत एवं वैदिक साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन, पाण्डुलिपियों तथा दुर्लभ ग्रन्थों का संशोधन व पाठालोचनपूर्वक प्रकाशन, शोध एवं अनुवादों में प्रगति हुई, फलतः भारतीय न्यायविधान, विधि, स्मृतियों, भारतीय दर्शन, उपनिषद्, धर्म, दर्शन, संस्कृति, ज्योतिष, गणित, व्याकरण व भाषाविज्ञान पर गहनता से प्रस्तुति होने लगी, सर विलियम जोन्स से ही प्रेरणा लेकर हेनरी टॉमस कोलब्रुक ने संस्कृताध्ययन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया था, जिसमें उसने यूरोपवासियों को संहिताओं से परिचय कराना विशिष्ट रहा। इसके अतिरिक्त हितोपदेश, किरातार्जुनीयम्, पाणिनी व्याकरण एवं अमरकोश का सम्पादन प्रमुख था। प्राचीन संस्कृत पाण्डुलिपियों का संग्रह, संरक्षण एवं उनके उपयोग तथा प्रक्रिया की बड़े परिश्रमपूर्वक प्रस्तुति कर इन्होंने विस्तृत मार्ग प्रशस्त किया था। हेनरी द्वारा कृत हजारों पाण्डुलिपियों का संग्रह आज भी इंग्लैण्ड की इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी की प्रतिष्ठा को बढ़ा रहा है।

सत्रहवीं अठारहवीं शताब्दी में यूरोप के इंग्लैण्ड एवं पुर्तगाल देश से बड़ी संख्या में गोरे लोग व्यापार की दृष्टि से भारत आये और यहाँ की भाषा, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, धर्म, दर्शन से भी परिचित हुए। लेकिन उस समय स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रिया और जर्मनी कभी भी भारत में उपनिवेश बनाने के इच्छुक नहीं रहे, जबकि इन देशों के कतिपय मनीषी विद्वानों ने प्राच्यविद्यागत एक बड़ा योगदान दिया है। यह सत्य है कि यूरोपीय देशों के विद्वान् अधिकांशतः ईसाई मिशनरी भावना से परिपूरित थे, परन्तु अधिकतर विद्वानों के हृदय एवं चिन्तन में निस्सन्देह वैदिक एवं लौकिक साहित्य के उदात्त ज्ञान, भाषा वैज्ञानिक सटीकता, शाश्वतसिद्धान्तता एवं समस्त काव्यगत विधाओं के सौन्दर्य ने परिवर्तन करने के लिए बाध्य कर दिया। समस्त भारतीयों को गर्व करना चाहिए कि हमारे वेदों तथा पूर्वजों, ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों के प्रति योरोपवासियों का इतना अनुराग बढ़ा, जिसके

कारण आज विश्व में भारतवर्ष, भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति व सभ्यता एवं ज्ञान का विशिष्ट सम्मान है। इन विद्वानों ने वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय की समस्त विधाओं पर शोधपरक एवं उच्चस्तरीय कार्य किया है जिसमें उन्होंने दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन, वेदों का भाष्य, सम्पादन, कोष-निर्माण, समस्त वैदिक वाङ्मय, पुराणों, महाकाव्यों, बौद्ध-जैन ग्रन्थों, भाषाविज्ञान, धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्र, शिल्पविद्या, विधि, इतिहास, कला, संगीत, साहित्य इत्यादि पर अद्भुत कार्य किया है, निश्चय ही इन विद्वानों ने वैदिक ग्रन्थों के विशुद्ध रूप से प्रकाशन एवं संरक्षण में जिस भूमिका का निर्वहन किया है, उससे वे सदा श्रद्धेय हैं। वस्तुतः उनके कृत कार्यों का विवरण एवं लेखा-जोखा अत्यन्त विस्तृत एवं समृद्ध है।

योरोपीय चिन्तकों एवं विद्वानों ने वैदिक एवं संस्कृत वाङ्मय से सम्बन्धित अथवा यह कहें कि ऋग्वेद से लेकर अधुनातन वाङ्मय तक की प्रायः सभी विद्वानों ने विविध विद्याओं, विषयगत विधाओं एवं पक्षों पर कार्य किया है विशेषकर ऋग्वेदीय वाङ्मय पर इनका विशिष्ट योगदान रहा है, उसमें दुर्लभ ग्रन्थों पर भाष्य, टीका, पाठालोचन, संशोधन, सम्पादन व प्रकाशनादि सम्मिलित रहा है। योरोप के विद्वानों में 26 सितम्बर 1786 ई० को लन्दन (इग्लैण्ड) में जन्मे हारेस हायमन विल्सन (H.H.Wilson) यद्यपि मेडिकल सर्जन डाक्टर थे, जो मेडिकल की नियमित सेवा में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कोलकत्ता बंगाल में नियुक्त किया था, परन्तु उनका आकर्षण भारतीय संस्कृत वाङ्मय की तरफ होने के कारण तथा प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् हेनरी कॉलब्रुक की प्रेरणा से नये सिरे से गहन संस्कृताध्ययन एवं उन्हीं की संस्तुति पर उन्हें एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल का सेक्रेटी 1811 में नियुक्त किया गया था। बाद में भारत और इग्लैण्ड में अनेक पदों पर रहते हुए उन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना, सम्पादन एव कोष निर्माण के अतिरिक्त ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद करके 1850-57 की अवधि में किसी यूरोपियन द्वारा सर्वप्रथम प्रकाशन किया गया था। सायण के प्रबल समर्थक विल्सन द्वारा किये गये इसी अनुवाद का पुनः प्रकाशन दिल्ली से 1978 ई. एवं 1986 ई. में हुआ। जर्मनी के हेनोवर में 1805 ई० को जन्मे फ्रेड्रिख रोजन नामक ऐसे प्रथम विद्वान् हुए है, जिन्होंने अपने अल्प कालिक जीवन में ऋग्वेद से सम्बन्धित शोधकार्य अनुवाद व प्रकाशन का सर्वप्रथम श्रीगणेश कर आने वाले वैदेशिक तथा देशिक विद्वानों का प्रेरणास्पद मार्गप्रशस्त किया। संस्कृत धातुओं पर शोधकार्य करते हुए ये दृढ़ संकल्पवान् हो चुके थे कि ऋग्वेद का लैटिन भाषा के साथ अनुवाद किया जाय, इन्होंने नमूने के तौर पर जर्मन भाषा में **ऋग्वेदा ए स्पेशिमेन** के नाम से शुरुआत में सात ऋचाओं पर कार्य जारी किया था, इस प्रारम्भिक कार्य का उत्साहजनक परिणाम यह था कि इन्होंने अपनी दुःखद मृत्यु से कुछ वर्षों पूर्व ऋग्वेद का लैटिन अनुवाद के साथ एक

भाग तैयार कर दिया था, मात्र 32 वर्ष की आयु में उनकी दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु के ठीक एक वर्ष बाद 1838 ई० में Rigveda Sahita Liber Primus (Rigveda Sanhita first book) अर्थात् ऋग्वेद संहिता प्रथम ग्रन्थ का लैटिन अनुवाद के साथ प्रकाशन हुआ। वे भारतीय मनीषा पर आधारित चिन्तन को वेदों को समझने में अधिक विश्वास रखने के साथ वेदों की व्याख्या में पाणिनी व्याकरण एवं निरुक्त को अत्यन्त उपयोगी मानते थे। अपनी बहुमुखी प्रतिभा व प्रखर अध्यवसायी होने के कारण उन्होंने हॉगटन की बंगाली संस्कृत डिक्शनरी का थोमस कालब्रुक के आग्रह पर 1831 ई. में सम्पादन किया था। उन्होंने मौहम्मद बिन मूसा की एलजबरा (बीजगणित) का गहराई से अध्ययन करने के बाद स्पष्ट किया था कि इसको अरबों ने भारत से उधार लिया है, चूंकि मूलतः यह एलजबरा भारत की ही खोज एवं देन है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही वैदिक एवं संस्कृत वाङ्मय के सम्बन्ध में अध्ययन-अध्यापन शोध सम्पादनादि कार्य प्रारम्भ हो गया था, जिसका एक बड़ा श्रेय जाता है ईजेन वर्नफ को। 08 अप्रेल 1801 में पेरिस फ्रांस में जन्मे वर्नफ ने संस्कृत, अवेस्ता तथा बौद्ध अध्ययन के साथ साथ वेदों के सम्बन्ध में महनीय उद्योग किया था, वे इस रहस्य से अवगत थे कि बिना निरुक्त एवं प्रातिशाख्यों के वेदों की भाषा एवं अर्थ नहीं जाने जा सकते हैं। उनके इस चिन्तन का परिणाम था 1852 ई. में निरुक्त का फ्रेन्च भाषा में एक संस्करण पेरिस (फ्रांस) से प्रकाशित हुआ। सायण के वेद भाष्य के प्रशंसक वर्नफ ने फ्रांस में ऋग्वेद के विभिन्न पक्षों पर अनेकानेक व्याख्यानों एवं लेखों के माध्यम से ऋग्वेदाध्ययन को पर्याप्त आयाम दिया।

फ्रेड्रिख रोजन के ही समकालीन जर्मनी के ब्रोन्सवेग नामक स्थान में 26.10. 1805 को जन्मे एड्अर्ड रोईर नामक विद्वान् जो एशियाटिक सोसाईटी कोलकत्ता (बंगाल) के पुस्तकालयाध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए थे, वहीं बिवलियोथिका इण्डिका के सम्पादन का कार्य करते हुए ऋग्वेद की व्याख्या व टिप्पणी सहित प्रकाशन करने की योजना को 1847 ई० में साकार करने में जुट गये थे, लेकिन जब उन्हें यह जानकारी हुई कि ऑक्सफोर्ड में मैक्समूलर उसी योजना पर कार्य कर चुके हैं तो उन्होंने यह कार्य छोड़कर ऋग्वेद विषयक दो विशद व्याख्यान "द फर्स्ट टू लेक्चर्स ऑफ द संहिता ऑफ ऋग्वेद विद कमेण्टरी ऑफ माधवाचार्य एण्ड अन इग्लिश ट्रांसलेशन ऑफ द टैक्स्ड" का प्रकाशन कोलकता में 1849 ई० में प्रकाशित किए। जर्मनी के गोटिङ्गन शहर में 12.1.1809 को जन्मे फ्रेड्रिख बोलेन्सन ने कसन यूनिवर्सिटी के संस्कृत प्रोफेसर पद से सेवा निवृत्ति के बाद ऋग्वेद के छन्दों के अध्ययनार्थ अपने को अपनी अन्तिम श्वांस तक प्रबल इच्छा के साथ समर्पित कर दिया था, जिसका परिणाम था कि उनके द्वारा ऋग्वेद की ऋचाओं तथा शब्दकोष व

व्याकरणगत समस्याओं पर अनेक शोधलेख लिखे गये जो जर्नल ऑफ जर्मन ओरिण्टल सोसाईटी में छपे थे।

जर्मनी के स्टेटिन नामक स्थान में 1809 ई. को जन्मे हरमन ग्रासमान एक ऐसा नाम है जिनके नाम से भाषा विज्ञान के क्षेत्र में ग्रासमान नियम (Grassmann Law) प्रसिद्ध है। ये ऐसे प्रथम योरोपिएन हैं जिन्होंने इण्डो-योरोपिएन भाषा के मूल के तुलनात्मक अध्ययन का चिन्तन किया। यद्यपि प्रारम्भ में ये गणित विषय के विद्वान् रहे हैं परन्तु परिस्थितिवश इनका झुकाव संस्कृत की ओर हुआ, अपने प्रभूत श्रम के कारण इन्होंने अपने ही मार्गदर्शनार्थ "डिक्शनरी ऑफ ऋग्वेद" तैयार की जो बाद में 1873 ई. में लेप्जिंग में छपी। तत्पश्चात् दो भागों में सम्पूर्ण ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद लेप्जिंग से ही 1876-1877 ई० में प्रकाशित हुआ। वहीं एडलबर्ट कुहन नामक जर्मन विद्वान् ने ऋग्वेद के शब्दों का भाषा विज्ञान में क्या मौलिक योगदान है? इस उद्देश्य से वैदिक छन्दों का भाषाविज्ञानगत शाब्दिक परिणामों का संग्रह विषयक जर्मन भाषा में लेख प्रकाशित किए।

1821 ई० को जर्मनी में ही जन्मे थ्योडर आफ्रेख्त संस्कृत एवं वैदिक क्षेत्र के सुयोग्य विद्वान् हुए हैं, जो जर्मनी से स्थानान्तरित होकर मैक्समूलर द्वारा ऋग्वेद संहिता के सायण भाष्य पर किये जाने वाले कार्य एवं प्रकाशन हेतु ऑक्सफोर्ड आकर महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की थी। बाद में बान (जर्मनी) में ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण) और ऐतरेय ब्राह्मण 1889 ई० में प्रकाशन किया था। पाश्चात्य विद्वानों में इनके द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद संहिता का संस्करण सराहनीय रहा है।

जर्मन देश के स्टूटगार्ट नगर में 3.4.1821 को जन्मे रूडोल्फ बॉन राथ, सायणाचार्य विरोधी वर्ग के एक अग्रणी वैदिक विद्वान् के रूप में काफी प्रसिद्ध रहे हैं। 1846 ई० में आक्सफोर्ड से इन्होंने वैदिक व्याकरणिक ग्रन्थ ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य सूत्र के विशिष्ट अध्ययन सहित जर्मन भाषा में Zur Literature und Geschichti des Veda (on the Literature and history of the Veda) प्रकाशित की थी। बोहटालिंक के साथ मिलकर प्रकाशित जर्मन संस्कृत कोष के अतिरिक्त जर्मन भाषा में ही siebzig leider des Rigvedaa (Seventy hymns of the Rigveda) नाम से लगभग सत्तर ऋचाओं के अनुवाद सहित 1875 ई० में प्रकाशन किया था।

ऋग्वेद के क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वज्जगत् शिरोमणि फ्रीड्रिख मैक्समूलर का नाम बहुत आदरणीय है। मूलतः जर्मनी के देसाड में 1823 ई० को जन्मे मैक्समूलर का प्रमुख कार्य लंदन (इग्लैण्ड) में ही रहा है। प्रायः इनका समस्त कार्य अंग्रेजी भाषा में रहा है। इनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं समस्त संसार के वैदिक व संस्कृत विद्वानों का मार्गदर्शक ग्रन्थ सायणाचार्य के ऋग्वेद भाष्य पर कई सौ पृष्ठों में विस्तृत भूमिका

टिप्पणी एवं अन्य अत्यावश्यक सूचनापुरस्सर अनुवाद सहित विशालतम पांच खण्डों में सम्पूर्ण ऋग्वेद संहिता प्रकाशित हुई। इनके अपने उच्च अध्ययन के समय में ही सायण भाष्य सहित ऋग्वेद संहिता का प्रकाशन करना उनका एक दृढ़ सङ्कल्प था, जिसका दिव्य भाव एवं प्रभूत परिश्रम सहित प्रथम खण्ड मात्र 26 वर्ष की आयु में ही 1849 ई. में प्रकाशित किया जाना था। इनकी प्रसिद्धि एवं भारतीय प्राच्य विद्या के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य को देखते हुए भारत के विजयङ्गर के महाराजा पशुपति आनन्द गजपति राय ने ऋग्वेद के द्वितीय संस्करण के प्रकाशन का व्ययभार वहन किया था। यद्यपि प्रारम्भ में वेदों पर इनके द्वारा किए जाने वाले कार्य का उद्देश्य एवं मानसिकता अंग्रेजों के षड्यन्त्र का हिस्सा कहा जाता है, परन्तु भारतीय ज्ञान विज्ञान की पराकाष्ठा एवं वैशिष्ट्य के दृष्टिगत बाद में विशुद्ध हृदय से वेदों का कार्य किया था। आधुनिक वेदभाष्यकार व समग्र क्रान्ति व समाजसुधार के पुरोधा महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं मैक्समूलर दोनों समकालीन तथा पत्र व्यवहार व अपने अपने कृत कार्य के माध्यम से गहरे मित्र भी हो गये थे। महर्षि दयानन्द उन्हें सम्मान व स्नेह भाव से मोक्षमूलर साहब कहकर सादर स्मरण करते थे। ऋग्वेद प्रकाशन के अतिरिक्त उनके द्वारा दो विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 1. Sacred Books of the east तथा 2. India what it can teach ने उनके प्रतिभावैचक्षण्य के द्योतक हैं।

संस्कृत साहित्य और तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन हेतु प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् फ्रेञ्ज बॉप द्वारा प्रेरित 9.7.1807 को जन्मे एडोल्फ फ्रीड्रिख स्टेञ्जलर ने उद्घोषणा की थी कि "संस्कृत काव्यशास्त्रों के अतिरिक्त भारतीय विधि एवं पारिवारिक विषयों को बिना गृह्यसूत्रों के समझना दुष्कर है", अतः इनकी महत्ता एवं स्वरूप को समझे बिना न्याय दण्ड व्यवस्था तथा परिवार व समाज के सभी मामलों के लिए गृह्यसूत्रों का अध्ययन आवश्यक है इसी को दृष्टिगत उन्होंने जर्मन भाषा में अनेक गृह्यसूत्रों का अनुवाद कर 1886 ई० में प्रकाशित किया था, उनमें ऋग्वेद के आश्वलायन और शांखायन इत्यादि गृह्यसूत्रों का एक शब्दकोष (Glossary of Grihyasutras of Ashvalayan Paraskar shankhayan and Gobhil) प्रमुख है। यह गृह्यसूत्रों की दुरूह एवं तकनीकी शब्दावली पर विशिष्ट कार्य था।

ए० लेङ्गोइस नामक एक फ्रेञ्च विद्वान् का Rigveda, ou liver des hymns नामक शीर्षक से ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों एवं मन्त्रों का फ्रेञ्च अनुवाद पेरिस (फ्रांस) से प्रथम बार 1870 ई. में प्रकाशित हुआ था, जिसका पुनर्मुद्रण 1948-51 ई. की अवधि में किया गया था, जो फ्रेञ्च भाषाभाषियों में पर्याप्त प्रसिद्ध एवं चर्चित रहा है।

इंग्लेण्ड के कर्सले विल्टशायर में 25 मई, 1826 ई. में जन्मे राल्फ टी.एच.

ग्रिफिथ पूरे यूरोप एवं भारत में समान रूप से वैदिक वाङ्मय एवं संस्कृत वाङ्मय के विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। भारत में बनारस (काशी) में क्वींस संस्कृत कालेज में (वर्तमान में-सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी) प्रिंसिपल भी रहे तथा सेवा निवृत्ति के बाद ग्रिफिथ अपने भाई फ्रेड्क के साथ कोटगिरि में स्थाई रूप एवं शान्ति भाव से रहकर वेद एवं संस्कृत वाङ्मय पर कार्य करते हुए 7 नवम्बर 1906 को दिवंगत हो गये। सायण भाष्य का अनुसरण करते हुए इनके द्वारा अंग्रेजी में चारों वेदों के मन्त्रों पर किया गया अनुवाद वैदिक जगत् में पर्याप्त स्थान बना चुका था और निश्चित रूप से वेदों के अनुवाद कार्य एवं उनके प्रकाशन से उन्हें बहुत सम्मान और प्रसिद्धि मिली। ऋग्वेद के मन्त्रों का अनुवाद कार्य 1889 में पूरा कर दिया था जो बाद में तीन भागों में अंग्रेजी अनुवाद सहित क्रमशः 1869, 1896 तथा 1920 में प्रकाशन हुआ, तब से लेकर अब तक इसके अनेक संस्करण निकल चुके है, इनका विशेषकर ऋग्वेद 10:129 बहुत श्रमसाध्य कार्य था। ऋग्वेद का पद्यानुवाद इनके प्रतिभावैचक्षण्य का द्योतक है।

1859 ई० में पूना कालेज (वर्तमान-पुणे विद्यापीठ) में संस्कृत प्रोफेसर एवं सुप्रिण्टेण्डेण्ट के पद पर नियुक्त जर्मन विद्वान्, मार्टिन हॉग ने प्राच्य विद्या के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। इनके द्वारा सम्पादित एवं अनूदित ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ 1863 ई० में 2 खण्डों में प्रकाशित हुआ था, निःसन्देह यह उनका अति महत्वपूर्ण कार्य था। जर्मनी के ही एक अन्य विद्वान् विल्हेम पेरख्ख ने ऋग्वेद की उच्चारण प्रक्रिया पर विशेषकर क्रम पाठ पर गहन शोध कार्य किया था, जो इनके शोध प्रबन्ध का विषय रहा, पी.एच.डी. शोधप्रबन्ध के रूप में 1853 ई० में बर्लिन यूनिवर्सिटी में पी.एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत कर डाक्टरेट उपाधि प्राप्त की थी। वहीं लगभग एक वर्ष पश्चात् उन्होंने ऋग्वेद के मन्त्रों की अकारादि क्रम से एक सूची तैयार कर 1854 ई० में Indishe studies नामक बहुत प्रसिद्ध जर्नल में भाग तीन के प्रकाशित की थी।

वियेन (जर्मनी)के अल्फ्रेड लुडविग (1832-1912) को ऋग्वेद के एक अच्छे अनुवादक विद्वान् के रूप में सादर स्मरण किया जाता है। लुडविग ने ग्यारह वर्षो तक परिश्रमपूर्वक ऋग्वेद का जर्मन अनुवाद ही नहीं अपितु टिप्पणी व भाष्य के साथ छै भागों में 1876-1888 ई० की अवधि में प्रकाशन किया था। इस अनुवाद व व्याख्या कार्य में लुडविग ने और अधिक सटीक निर्वहन पूर्वक ब्राह्मण ग्रन्थों एवं निरुक्तादि वेदोत्तरकालीन ग्रन्थों का गम्भीर उपयोग के साथ आचार्य सायण की व्याख्या का भी भरपूर उपयोग किया है। 23-3-1841 ई० को स्विट्जरलैण्ड में जन्मे स्विस् विद्वान् हेनरिख ब्रून हॉफर ने ऋग्वेद का अपने स्तर पर अध्ययन करने के

बाद वैदिक भारत का अन्य देशों के साथ विभिन्न मुद्दों पर क्या सम्बन्ध रहा है, इसका विश्लेषण-पुरस्सर उल्लेखनीय कार्य किया है। इंग्लैण्ड आकर ऑक्सफोर्ड में मोनियर विलियम्स के अकादमिक सहयोगी रहे तथा मैक्समूलर के ऋग्वेद प्रकाशन में ऋग्वेद का इन्डेक्स बनाने में अपना बहुमूल्य साहाय्य दिया। बाद में उन्होंने ऋग्वेद की ऋचाओं के अनुवाद एवं भारतीय विद्या विषयक कार्य जर्मन भाषा में 1882 ई० में प्रकाशित किया। यह कार्य विद्वानों द्वारा अभिनन्दनीय एवं चर्चित रहा है।

जार्ज फ्रीड्रिख विल्हेम थिबोट एक ऐसे जर्मन विद्वान् थे, जिन्होंने वाराणसी तथा इलाहाबाद में बहुत वर्षो तक प्रोफेसर एवं प्रिंसिपल के पद पर रहकर भारतीय दर्शन, ज्योतिर्विज्ञान एवं गणितशास्त्रादि विषयों पर पर्याप्त योगदान प्रदान किया है। 20.3.1848 को हिडनबर्ग (जर्मनी) में जन्मे थिबोट ने ऋग्वेद के प्रातिशाख्य एवं ऋग्वेद की ऋचाओं पर जटा, क्रमपाठ इत्यादि विकृति पाठों पर अच्छा कार्य किया था। जिसका 1870 में जर्मन भाषा में प्रकाशन हुआ था। जर्मनी के विद्वानों में कार्ल गेल्डनर समान रूप से अवेस्ता एवं वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में एक गहन अध्येता के रूप में प्रसिद्ध हैं, लेकिन इन्होंने बाद में ऋग्वेद अध्ययन पर अपना विशेष ध्यान दिया। इन्होंने Hymns Siebenzig lie der des Rigveda (Seventy hymns of the Rigveda) नामक अपना प्रथम प्रकाशन जर्मन भाषा में 1878 ई० में निकाला था, जो ऋग्वेद की सत्तर ऋचाओं का अनुवाद था, इस कार्य से योरोप में इनकी एक विशेष पहचान बनी। इनका मानना था कि मात्र भाषावैज्ञानिक पद्धति और आर्यों के प्रागैतिहासिक कार्य के आधार पर ही ऋग्वेद को व्याख्यायित नहीं किया जा सकता बल्कि इसे पूर्णतः वैदिक ज्ञान-विज्ञान पर आधारित अत्यन्त महत्वपूर्ण व प्राचीनतम रचना मानकर चिन्तन व व्याख्या करनी चाहिए। बाद में इन्होंने चार भागों में वैदिक अध्ययन पर प्रकाशन किया, जिसमें Der Rigveda in Answahl (Selection from the Rigveda) नामक कार्य जर्मन भाषा में दो भागों में 1907 ई० और 1909 ई० में क्रमशः प्रमुख हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद गेल्डनर का अपना पूरा ध्यान सम्पूर्ण ऋग्वेद के अनुवाद पर केन्द्रित रहा, जिसका प्रथम भाग 1923 ई० में quellen zur Religions ges chichte नामक सीरिज द्वारा गोइटिंगन (जर्मनी) से प्रकाशित हुआ। पिशेल और गेल्डनर (Geldner) ने भी अपनी पुस्तक 'वेदिशे स्तूदियेन' में रॉथ की पद्धति को अमान्य ठहाराया। रॉथ ने जहाँ सायण के बहिष्कार का प्रस्ताव किया था, वहीं गेल्डनर ने यूरोपीय वेद-व्याख्याकारों की तुलना में सायण की व्याख्या को अधिक शुद्ध घोषित किया-'The true character of the Rigveda has been far more correctly rendered by Sayana than by the European interpreters.'

गेल्डनर के अनुसार यूरोपीय विद्वानों ने वहीं भयावह अशुद्धियाँ कीं, जहाँ उन्होंने भारतीय भाष्यकारों की अवहेलना करने का दुस्साहस किया, क्योंकि ऋग्वेद वास्तव में भारतीय सृष्टि है और जो भी इसे समझना चाहता है, उसे परवर्ती भारतीय साहित्य की सहायता लेनी ही पड़ेगी। गेल्डनर ने पश्चिमी भाषाशास्त्र को इस सन्दर्भ में अग्राह्य और भ्रामक माना। 'वेदिशे स्तूदियन' में व्यक्त पिशेल और गेल्डनर की इस सुदृढ़ अवधारणा कि कोई भारतीय ही वैदिक कवियों के भावों के भावों में सही ढंग से साझीदारी कर सकता है। (only an Indian can share in these feelings of the old poets in this fashion) पश्चिम में थोड़ा बहुत उपहास भी किया गया, लेकिन इन दोनों विद्वानों ने कतिपय वैदिक शब्दों का जो विवेचन अपने ग्रन्थ में किया, उससे बहुत सी विरोधी गर्जन-तर्जन अपने आप थम गईं। यही कारण है कि गेल्डनर की अवधारणाओं को चुनौती देनेवाला कोई उल्लेखनीय स्वर अभी तक उभर नहीं सका।

बर्थोलेट के Reader in the history of Religions नामक ग्रन्थ जिसमें zoroasters Religion तथा Vedimus und Brahmanismus शीर्षकों से अवेस्ता एवं ऋग्वेद व ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में लिखा, जो उनका अति महत्वपूर्ण योगदान कहा जाता है। अल्फ्रेड हिलेब्राण्ट भी ऐसे जर्मन विद्वान् हैं, जिनकी वैदिक अध्ययन की बहु विधाओं में गति थी, उनका वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों, श्रौतसूत्रों, उपनिषदों, कर्मकाण्ड, वैदिक देवतावाद इत्यादि पर बहुमुखी अध्ययन रहा है। 1853 ई० में जन्मे हिलेब्राण्ट का एक महत्वपूर्ण कार्य है ऋग्वेद के "शांखायन श्रौतसूत्र" पर, जिसको इन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित 'बिबलियोथिका इण्डिका' की सीरीज में तीन भागों में क्रमशः 1888, 1891 और 1897 ई० में प्रकाशित किया था।

वैदिक क्षेत्र में इंग्लेण्डवासी ए.ए.मैक्डानल एक ऐसा नाम है, जिन्हें योरोप के लोग वैदिक व्याकरण के क्षेत्र में उनके उल्लेखनीय कार्य करने के कारण "योरोपीय पाणिनी" की संज्ञा से सादर स्मरण करते हैं। अन्य शोध कार्यों एवं लेखन के अतिरिक्त तीन ऐसे विशिष्ट कार्य हैं, जिनसे उन्हें हमेशा स्मरण किया जायेगा-प्रथम hymns of the Rigveda द्वितीय Vedic Reader for students और Vedic grammer वैदिक व्याकरण पर लिखा गया ग्रन्थ अपने में इनके ऋषित्व का प्रतिपादन करता है। इनके वैदिक व्याकरण ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन के मालिक के निवेदन एवं अभिनव पाणिनीस्वरूप पं. चारुदेव शास्त्री की प्रेरणा से इनके यशस्वी सुपुत्र पद्म विभूषण व विद्या मार्तण्ड प्रो. सत्यव्रत शास्त्री द्वारा अत्यन्त श्रमपूर्वक किया गया, जिसका प्रकाशन मोतीलाल बनारसी दास द्वारा सन् 1971 में प्रथम बार तथा पुनर्मुद्रण 1987 ई. में किया गया।

जर्मनी के ही हरमन ओल्डनवर्ग ऐसे मनीषी विद्वान् हुए हैं, जो भारतीय मनीषा के आधार पर वैदिक वाङ्मय की व्याख्या के पक्षपोषक हैं, उनका चिन्तन भारत विरोधी मानसिकता वाले पाश्चात्य व्याख्याकारों व लेखकों के लिए चेतावनी भरी ललकार वाला रहा है। उनका स्पष्ट मानना था कि जब तक वैदिक या भारतीय चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में नहीं सोचेंगे तब तक वेद एवं पश्चाद्वर्ती वैदिक वाङ्मय के साथ न्याय नहीं कर सकते, उन्होंने योरोप के रूडोल्फ रॉथ, आटो बॉथलिंक जैसे दुराग्रही दुरभिमानी पाश्चात्य विद्वानों की जमकर आलोचना की है। 31 अक्टूबर 1854 ई० को जन्मे ओल्डनवर्ग का मुख्य योगदान वैदिक एवं बौद्ध अध्ययन पर आधारित रहा है। भारत से उन्हें अथाह स्नेह व आदर था, फलतः उन्होंने 1912-13 में भारत की यात्रा कर स्वयं बहुत कुछ सीखकर वास्तविकता से परिचित हुए। ओल्डनवर्ग का प्रथम कार्य था "ऋग्वेद के मन्त्रों की छन्द एवं ग्रन्थीय इतिहास की भूमिका" जो जर्मन भाषा में 1888 ई० में बर्लिन (जर्मनी) से प्रकाशित हुआ, गवेषणात्मक व गम्भीर यह कार्य विद्वानों के बीच प्रशंसनीय व चर्चा का विषय रहा है। इनका दूसरा कार्य Die Religion des Veda (The Religion of the Veda) था, जो ऋग्वेद से लेकर परवर्ती वैदिक वाङ्मय तक के अध्ययन पर आधारित था, यह 1894 ई० में जर्मनी से प्रकाशित हुआ, यह दिल्ली में 1998 ई० में पुनः प्रकाशित हुआ है। 1988 में Rigveda, notes on textual history and exegesis नाम से ऋग्वेद पर टिप्पणी, ग्रन्थीय इतिहास एवं उसकी व्याख्या पर आधारित ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। ओल्डनवर्ग ने गृह्यसूत्रों एवं संस्कारों पर भी महत्वपूर्ण कार्य किया है, जिसके अनेक संस्करण उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में निकले। वहीं माइन्ज (जर्मनी) में 7.06.1855 को जन्मे डॉ. हेनरिख वेञ्जिल ने 1879 ई० में जर्मन भाषा के माध्यम से "uber den instrumentalis in Rigveda" (On the instrumentals in the Rigveda) नामक विषय पर शोधोपाधि ट्यूविंगन यूनिवर्सिटी से प्राप्त की थी। मात्र 38 वर्ष की उम्र में इनका देहावसान होने के कारण इस प्रतिभाशाली जर्मन विद्वान् का अकादमिक कार्य अधिक नहीं हो सका।

अल्तवासर (जर्मनी) में 1862 ई० को जन्मे ब्रूनो लेबिख का यद्यपि वेदों विशेषकर ऋग्वेद का कोई अध्ययन नहीं था, परन्तु उन्होंने पाणिनी व्याकरण तथा ब्राह्मण ग्रन्थों पर अच्छा एवं महत्वपूर्ण कार्य अवश्य किया है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ एवं पाणिनी व्याकरण विषय पर गोटिंगन विश्वविद्यालय से शोध की उपाधि 1885 ई० में प्राप्त की। वहीं ऋग्वेदीय गृह्यसूत्र आश्वलायन का पाणिनी व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में स्वतन्त्र रूप से कार्य किया था।

22.12.1863 को आस्ट्रिया में जन्मे मोरिस विण्टरनिट्ज की एक विशेष विद्वान् के रूप में ख्याति है, उनके तीन महत्वपूर्ण कार्य हैं, जिनके कारण उन्हें स्मरण

किया जाता है। प्रथम-तीन खण्डों में History of Indian literature" द्वितीय-महाभारत का समालोचनात्मक संस्करण और तृतीय-आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का समालोचनात्मक संस्करण। इन्होंने 1921 ई० में शान्तिनिकेतन आकर रवीन्द्रनाथ टैगोर का लगभग एक वर्ष सानिध्य प्राप्त कर भारतीय ज्ञान-विज्ञान का अर्जन कर अपने अध्ययन का क्षेत्र और विस्तृत किया। इन्होंने मैक्समूलर के जीवन की अन्तिम अवधि में उनके ऋग्वेद के द्वितीय संस्करण के सन्दर्भ जोड़े, जो पहले संस्करण के बाद में स्थान देकर प्रकाशित हुए थे। एमिल सीग, जिनका जन्म 12.8.1866 में ब्रेटिन्टेख (जर्मनी) में हुआ था, ने व्याकरण एवं शिक्षा के क्षेत्र में प्रारम्भिक गम्भीर अध्ययन किया। फलतः उनका 'भारद्वाज शिक्षा' पर लैटिन भाषा में शोधोपाधि हेतु शोध ग्रन्थ 1891 में प्रकाशित हुआ था। बाद में इनके वैदिक वाङ्मय पर विशेषकर ऋग्वेद पर अनेक शोध लेख जर्मन भाषा में प्रकाशित हुए। जिनमें-Indra and the theft of soma according to Rigveda, sunraces in the Rigveda" इत्यादि प्रमुख हैं।

20.4.1868 को गौथियन (जर्मनी) में जन्मे जर्मनी के एक अन्य विद्वान् हेनस् ओरटेल उच्च शिक्षार्थ अमेरिका चले गये जहाँ इन्होंने विलियम ड्विट ह्विटनी के साथ अध्ययन किया। इनके The Meaning of Sunrita in the Rigveda, The legend of Indira's visit to Medhatithi, Sayana on Rigveda इत्यादि शोध लेख Journal of the American oriental Society में क्रमशः 1851, 1894 और 1897 में प्रकाशित हुए।

इसीडोर इसाक शेफ्टेलोविट्ज एक ऐसे जर्मन थे जिनका भारतीय प्राच्य विद्या एवं ईरानियन अध्ययन पर गहन चिन्तन के साथ-साथ योरोपीय भाषाविज्ञान पर भी विशेष अध्ययन रहा है। 1.5.1875 को सन्दस्लेविन में जन्मे शेफ्टेलोविट्ज का महत्वपूर्ण कार्य जर्मन भाषा में लिखित "Dei Apokryphen des Rigveda (The Apocryph of the Rigveda khilani) कार्य था, जो प्रथम बार सन् 1906 में प्रकाशित हुआ, बाद में अपेक्षित परिवर्धन के साथ सन् 1966 में पुनः प्रकाशित हुआ। इनका दूसरा कार्य सम्पूर्ण ऋग्वेद के साथ कात्यायन की सर्वानुक्रमणी का अध्ययन और उसकी परिश्रमपूर्वक पाण्डुलिपि तैयार करना रहा। इनका एक महत्वपूर्ण शोधकार्य जर्मन भाषा में ही लिखित "Zur Textkritik und Lautlehre des Rigveda (on Textual criticism and phonetics of Rigveda) 1907 ई० में वियना जर्नल ऑफ ऑरियण्टल स्टडीज में प्रकाशित हुआ था, यह कार्य ध्वनि विज्ञान विषयक विशिष्ट कार्य था। मूलतः यहूदी धर्मावलम्बी शेफ्टेलोविट्ज को जर्मनी में नाज़ी शासन के यहूदी विरोधी एवं अत्याचारों के कारण बाद में इंग्लैण्ड में शरण लेनी पड़ी, जहां 17.12.1934 को इनका मृत्यु हो गई थी। 4.2.1878 में जन्मे डॉ. हरमन वेलर ने कई

संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया, परन्तु उनका विशेष कार्य था वैदिक छन्दों पर। इन पर विशेष अध्ययन का सुफल परिणाम था "On comparisons in the Rigveda" तथा "on some metaphores in the Rigveda" में दोनों कार्य क्रमशः वैदिक छन्दों एवं ऋग्वेद में लाक्षणिक प्रयोगों से सम्बन्धित था।

डॉ० ए.वी. कीथ द्वारा ऋग्वेद शाकल शाखा के दो ब्राह्मणग्रन्थ क्रमशः ऐतरेय ब्राह्मण एवं कौषीतकि ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद सहित सन् 1930 में प्रकाशन हुआ, जिसमें उनकी एक विशद भूमिका भी उल्लेखनीय है। बाद में इनका पुनः मुद्रण दिल्ली से 1998 ई. में हुआ है। डॉ. कीथ ने ऋग्वेद की शांखायन शाखा के शांखायन आरण्यक का भी अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशन कर इसकी प्रतिष्ठा में समृद्धि प्रदान की है।

यूनिवर्सिटी ऑफ हवाई में संस्कृत प्रोफेसर इंग्लैण्डवासी वाल्टर एच. मोरर की Pinnacles of India's Past:- Selections from Rigveda नामक एक पुस्तक, जिसमें भारत के अतीत के मूर्धन्य ज्ञानभण्डार का प्रतिपादन प्रमाण पुरस्सर किया गया है। यह पुस्तक जॉन बेंजमिन्स पब्लिशिंग कम्पनी एम्स्टर्डम ने 1986 में प्रकाशित की है, उक्त पुस्तक में ऋग्वेद के चुने कुछ सूक्तों को लेकर लिखा गया है, जिसमें अग्नि, अपां नपात, इन्द्र, पूषा, सोम, वरुण, मित्र, मित्रावरुण, विष्णु, रुद्र, अश्विनौ, बृहस्पति, उषा, सूर्य, सविता आदि देवताओं एवं मूल तत्वों विषयक गम्भीर विश्लेषण किया गया है।

फ्रेञ्च विद्वान् लुईस रेनो ने फ्रेञ्च भाषा में Etudes Vediques it Panineennes नामक ग्रन्थ लिखा, जिसका मुख्य प्रतिपाद्य ऋग्वेदीय इन्द्र और अश्विन देवताक ऋचाओं सम्बन्धी था, इसका प्रकाशन फ्रांस में 1955-56 अवधि में हुआ।

जापान में भी वेदों के सम्बन्ध में अध्ययन अध्यापन शोध एव लेखन अच्छी प्रगति में रहा है। निहोनबासी, टोकियो (जापान) में 1899 में जन्मे टोक्यो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर नाओशिरो त्सूजी ने ऋग्वेद की ऋचाओं एवं कतिपय सूक्तों पर जापानी भाषा में प्रकाशन किया।

वेण्डी डोनिजर ओफ्लहर्टी का जन्म 20 नव. 1940 को न्यूयार्क अमेरिका में हुआ, हार्वर्ड और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में उच्च अध्ययन करने के बाद शिकागो यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर रहीं डॉ. वेण्डी डोनिजर का अधिकांश शोध कार्य हिन्दू माईथोलॉजी, हिस्ट्री और रिलीजन, संस्कृत साहित्य तथा हिन्दुइज्म रहा है। इन विषयों पर अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अन्ताराष्ट्रिय सम्पादक मण्डल की सदस्य एवं अमेरिका में विभिन्न अकादमिक पदों पर रहीं डोनिजर का The Rigveda:- an Anthology नाम से अंग्रेजी में 108 ऋग्वेदीय

ऋचाओं का अनुवाद, बिबल्योग्राफी एवं ऋग्वेद की एपेण्डिक्स के साथ 1981 ई. में पेनिजियन क्लासिक्स द्वारा प्रकाशन हुआ है।

तात्याना एलिजारेङ्कोवा 17 सितम्बर 1929 को सेण्ट पीटर्सवर्ग (सोवियत रूस) में जन्मी एक प्रतिभाशाली रशियन महिला हुई हैं, जिन्होंने वेदों के अध्ययन, अध्यापन, शोध एवं प्रकाशन में ऐतिहासिक आयाम प्रदान किया है, इनके द्वारा कृत कार्यों को देखते हुए भारत सरकार ने इन्हें 2004 में पद्मश्री से सम्मानित किया था। Language and style of the Vedic Rishis नामक पुस्तक 1995 में स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयार्क प्रेस में प्रकाशित हुई है। इनका रशियन भाषा में ऋग्वेद के 1-4 मण्डल पर किया गया अनुवाद नौका (मास्को) से 1972 ई. में प्रकाशित हुआ था। इसके लगभग 17 वर्षो बाद इनके द्वारा सम्पूर्ण ऋग्वेद पर किया गया तीन भागों में रूसी अनुवाद 1989-1999 ई. की अवधि में प्रकाशन हुआ, जो इनकी बहुत ही चर्चित कृति रही है। यह ही नहीं अपितु इन्होंने सम्पूर्ण अथर्ववेद का भी रूसी भाषा में अनुवाद कर 2005-2010 के मध्य तीन खण्डों में प्रकाशित किया है। जिसमें 2 भाग इनकी मृत्यु (5 सितम्बर 2007) के बाद प्रकाशित हुआ।

वैदिक तथा संस्कृत वाङ्मय के स्टीफन डब्ल्यु जेमिसन तथा जोइल पी.ब्रेरेटन नामक इन दोनों विद्वानों ने The Rigveda: The earliest Religious Potery of India नामक पुस्तक तीन खण्डों में यूनाईटिड स्टेट्स नेशनल एण्डोनमेण्ट फॉर ह्युमेनिटि के आर्थिक सहयोग से 2004 में प्रकाशन किया गया।

स्पेन, भारत तथा अमेरिका में शिक्षित एन्टोनियो डि निकोलस (12 फरवरी 1932 को स्पेन में जन्म), जो बाद में अमेरिकन नागरिकता लेकर स्टेट यूनिविर्सिटी न्यूयार्क में दर्शन एवं संस्कृत के प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त हुए, दर्शन शास्त्र के विशेषज्ञ के रूप में ख्यात प्रो० निकोलस ने पुस्तकों एवं शोध लेखों से अपने को जहां समृद्ध किया है, वहीं इनकी ऋग्वेद पर एक कृति है जिसका शीर्षक है-Meditations through The Rigveda: A Retrospective इसमें ऋग्वेद के माध्यम से ध्यान, चिन्तन अथवा समाधि तक कैसे पहुँचा जा सकता है, इन बातों का वर्णन है। इनकी यह कृति 1993 में प्रकाशित हुई इसके अतिरिक्त The myth of invariance: The origin of Gods Mathemetics and music from the Rigveda to Plato नामक एक कृति 1978 में न्यूयार्क से ही प्रकाशित हो चुकी है।

डब्ल्यु कालेण्ड के विद्यार्थी रहे 14 अप्रैल 1905 में जन्मे डच विद्वान् जन गोण्डा ने उनके उत्तराधिकारी के रूप में 1932 में यूत्रिख्त एवं लैडिन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर रहकर वैदिक व संस्कृत वाङ्मय एवं इण्डोनेशियन जावनीज साहित्य पर बहुत ही प्रामाणिक एवं उल्लेखनीय कार्य किया है। इन्होंने ऋग्वेदगत

कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ एवं शोधलेख लिखे हैं। इनमें Aspectual Function of Rigvedic Present and Aorist (ऋग्वेद लट् और लुङ् की प्रयोगमीमांसा) Epithets in Rigveda (ऋग्वेद में विशेषण प्रयोग) आदि प्रमुख हैं। 1991 ई. में इनकी मत्यु के बाद इनके नाम से डच सरकार ने रॉयल नीदरलैण्डस् एकेडमी ऑफ आर्ट्स एण्ड साईसेंज नाम से गोण्डा फाउण्डेशन की स्थापना आर्ट्स एवं संस्कृत के युवा शोधार्थियों की शोध क्षेत्र में प्रतिभा निखारने एवं शोधकार्य कराने के लिये की है।

Goods in the global villeges नामक पुस्तक जार्ज मेसन यूनिवर्सिटी में समाजशास्त्र व मानवशास्त्र के प्रोफेसर लेस्टर कुट्र्ज द्वारा लिखी गई, जिसका प्रकाशन सन् 2015 में सेग पब्लिकेशन द्वारा किया गया। इसमें दीक्षा संस्कार, विवाह और अन्येष्टि संस्कारों पर उच्चारणीय 1028 ऋग्वेदीय ऋचाओं के उच्चारण विधि तथा अध्ययन पूर्वक विषयवस्तु को व्याख्यायित किया गया है।

17 जुलाई 1946 को सीडाम हॉलेण्ड में जन्मे भारत के जयपुर, पुणे तथा हॉलेण्ड की व्रजे यूनिवर्सिटी एम्सटर्डम इन विश्वविद्यालयों के रहे छात्र तथा यूनिवर्सिटी ऑफ लॉसेन से 2011 में संस्कृत प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त प्रो.जॉन्स ब्रोन्खोस्त का मूल अध्ययन, गणितशास्त्र, भौतिकी तथा ज्योतिष रहे परन्तु बाद में उनका विशेष अध्ययन, बौद्ध अध्ययन, दर्शन एवं संस्कृत व्याकरण, निरुक्तादि भी रहे। उनमें ऋग्वेद से सम्बन्धित दो लेख प्रसिद्ध रहे हैं। 1. Some observations on the padpath of the Rigveda तथा 2. The Rigveda Pratishakhya and its shakha ये दोनों लेख 1982 में प्रकाशित हुए हैं। मिखायल विट्जेल तथा तोशीफुमि गोटो इन दोनों ने परस्पर संयुक्त रूप से मिलकर ऋग्वेद-मण्डल-1 तथा 2 के आंशिक अनुवाद व टिप्पणी सहित जर्मन भाषा में तैयार की गई कृति को सन् 2007 में वर्लाग डेर वेल्टरिलिजेनेन द्वारा प्रकाशित किया गया, इन्हीं दोनों विद्वानों के द्वारा आगे के शेष मण्डलों पर भी जर्मन भाषा में लेखन कार्य जारी है।

1939 को एथेन्स में जन्मे ग्रीक देशवासी प्रो. निकोलस कजानस[1] ऋग्वेद संहिता के विशेषज्ञ, भारतीय पुरातत्वविद्, अवेस्ता साहित्य में दक्ष तथा एक अच्छे अर्थशास्त्र के मर्मज्ञ वैदिक विद्वान् हैं, का विशेष अध्ययन ऋग्वेद की विभिन्न

---

1. इस लेख के लेखक ने स्वयं भारत सरकार की स्वायत्तशासी संस्था महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेद विद्या प्रतिष्ठान उज्जैन के अपने कार्यकाल में उक्त संस्था के सचिव पद पर रहते हुए एक ऐतिहासिक भव्य विश्व वेदसम्मलेन उज्जैन में 2012 में आयोजित किया था, उस चार दिवसीय विश्व वेद सम्मेलन में डॉ. क़जानस को ग्रीक देश से बतौर विशिष्ट अतिथि के रूप में आमन्त्रित किया था, जहाँ इनके शोध व्याख्यान काफी प्रसिद्ध और चर्चित रहे।

विधाओं पर रहा है। इनका विशेष बल और चैलेंज रहता है कि आर्य लोग बाहर से नहीं आये अपितु यहीं के मूल निवासी हैं और हड़प्पा और मोहनजोदड़ों सभ्यता वेदोत्तरकालीन सभ्यता हैं। इनका चिन्तन भाषा विज्ञान, पुरातत्व, ऐतिहासिक तथ्यों तथा वेदों एवं वैदिक वाङ्मय पर आधारित है, जिसका सन्तोषजनक उत्तर अभी तक विरोधियों अथवा आलोचकों से नहीं मिला है। अतः इन्होंने इन सभी साक्ष्यों, तथ्यों एवं प्रमाणों के आधार पर इस थ्यौरी को अस्वीकार्य और निर्मूल सिद्ध कर दिया है कि आर्य लोग विदेशी अक्रान्ता थे। अनेक पदों पर कार्य कर चुके प्रो. क़जानस ने ऋग्वेद में सरस्वती, ऋग्वेद व अवेस्ता, ऋग्वेद एवं वैदिक वाङ्मय के आधार पर आर्यों का मूलदेश, योरोपीय देवत्व एवं ऋग्वेद इण्डो आर्यन्स, आगमन सिद्धान्त, ऋग्वेद में दर्शन एवं आत्मबोध, ऋग्वेद में समुद्र और सरस्वती New date of Rigveda, Rigvedic Pur तथा The Rigveda is Pre-Harapan आदि गंभीर शोध कृतियाँ लिखी हैं। अभी अभी अधुनातन इनका एक लेख–In the beginning the start of Philosophy in the Rigveda-I, नामक शीर्षक से एक गम्भीर शोध लेख वेद विभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से विभाग के प्रोफेसर डॉ. दिनेश चन्द्र शास्त्री के सुयोग्य सम्पादन में "वैदिक वाग् ज्योति" नामक प्रसिद्ध रिसर्च जर्नल के 2017–18 के अङ्क में प्रकाशित हुआ है।

इस तरह ऋग्वेदीय वाङ्मय के सम्बन्ध में वैदेशिक विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों एवं उनके द्वारा कृत कार्यों को केन्द्रित कर अधिकाधिक विश्लेषण एवं सूचनापरक तथ्यों की विवेचना इस लेख में की है। आज भी विदेशी व पाश्चात्यों द्वारा शोध व सृजन कार्य किये जा रहें है, जो निश्चय ही उनका वैदिक वाङ्मय की श्रीवृद्धि में अमूल्य व प्रशंस्य योगदान होगा।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (27-45) July-December 2018 ISSN 2277-4351

आर्यसमाज के द्वितीय नियम की वेदमूलकता

-प्रो. वीरेन्द्र कुमार अलंकार
अध्यक्ष, दयानन्द चेयर फॉर वैदिक स्टडीज
एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

स्वतन्त्रता का पूर्ण सुख नियम, मर्यादा व अनुशासन में ही है। नियमों से रहित जीवन उच्छृंखल होता है। इसलिए नियम स्वतन्त्रता के बोधक नहीं, साधक हैं। नियम किसी समाज की दृष्टि (Vision), संस्कृति, मानसिक उदात्तता व दर्शन के द्योतक होते हैं। आर्यसमाज का Vision इस छठे नियम से स्पष्ट हो जाता है कि- संस्कार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है। दस नियमों में क्रम का बड़ा महत्त्व है। प्रथम नियम में ईश्वर को आदिमूल मानकर यह सन्देश दिया है कि आर्यसमाज ईश्वर को मानता है। दूसरे नियम में ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट किया गया है- ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।

इस नियम में जिस शब्दावली का प्रयोग हुआ है, उसकी श्रुतिमूलकता का यहाँ विचार किया जा रहा है। ईश्वरवादियों ने कल्पनाओं के लोक में जाकर ईश्वर का जो स्वरूप विवेचित किया है, उससे ईश्वरविषय और अधिक उलझ गया है। इसलिए यह आवश्यक था कि वेद के ईश्वर का सारगर्भित विवरण प्रस्तुत किया जाए। आर्यसमाजोक्त ईश्वरस्वरूप समझ में आ जाने पर अनेक शंकाएँ स्वतः निर्मूल हो जाती हैं। क्योंकि इस स्वरूप का उपजीव्य वेद है।

1. सच्चिदानन्दस्वरूप की वेदमूलकता-

यहाँ ईश्वर का स्वरूप निर्दिष्ट है। स्वरूप या लक्षण वह होता है, जो अन्यत्र प्रसक्त न हो। नैयायिक शास्त्र की त्रिधा प्रवृत्ति मानते हैं-उद्देश, लक्षण और परीक्षा **(त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति)**।[1] जैसे- **'गौः'** यह

1. न्यायभाष्य-1.1.2

उद्देश है। इसका लक्षण ऐसा होना चाहिए जो केवल **'गौः'** में ही प्रवृत्त हो। उसमें असंभव, अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष न हों। यदि कोई कहे कि जिसके चार पाँव हैं या सफेद रंग है, वह गौ है, तो यह दोषयुक्त लक्षण है क्योंकि यह तो भेड़, कुत्ते में भी है। यह भी कहना अयुक्त है कि दूध देने वाला, पूँछ वाला व चार पैर वाला पशु गौ है, तो इसकी व्याप्ति बकरी व भैंस में भी है। इसलिए गाय का स्वरूप या लक्षण है-गलकम्बल होना **(गोः सास्नादिमत्त्वम्)**। सारी दुनिया के पशु देख लीजिए, पर यह गलकम्बल केवल गाय का ही होता है। इसी प्रकार ईश्वर का भी ऐसा लक्षण होना चाहिए जो केवल ईश्वर में ही घटित होवे। वैदिक आचार्यों ने वेद का अनुसन्धान करके ईश्वर का यह विलक्षण लक्षण किया है कि **ईश्वर सच्चिदानन्द** है। यह सत्, चित् और आनन्द का समन्वय कहीं भी अन्यत्र नहीं मिलेगा। **सत्** का अभिप्राय है सदा वर्तमान। यदि ईश्वर को केवल **सत्स्वरूप** कह देते तो इस लक्षण की अतिव्याप्ति प्रकृति व जीवात्मा में भी हो जाती, क्योंकि प्रकृति भी सत्-सदावर्तमान है। आत्मा भी अविनाशी व सत् है। यदि **सच्चिद्रूप** कह देते तो प्रकृति में तो नहीं पर जीवात्मा मे अतिव्याप्ति हो जाती, क्योंकि आत्मा चित्-चेतनवान् भी है। किन्तु **सच्चिदानन्दता** का सामूहिक रूप केवल ईश्वर ही है। जीवात्मा भले ही चित् भी हो, पर वह आनन्दरूप नहीं है। विश्व में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जिसे कभी कोई दुःख ही न हुआ हो। इसलिए कोई प्राणी ईश्वर नहीं हो सकता। कोई पाषाण भी ईश्वर नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें चित्त्व नहीं है, चित्त्व न होने से आनन्द की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

वेद में सच्चिदानन्द यह समस्त पद उपलब्ध नहीं है। किन्तु वेदप्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप इस पद में आ गया है। यह ऋषियों के अनुसन्धान का परिणाम है। भर्तृहरि कहते हैं कि वेद में विविध लिङ्गों के आधार पर तत्त्वविद् आचार्य उस विषय का विशद अन्वाख्यान करते हैं-स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः। तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः॥[1] परमेश्वर के सत्, चित्, आनन्द स्वरूप की वेदमूलकता के कुछ प्रमाण ये हैं-

(1) सत्- ईश्वर सत् है, इसके अनेक प्रमाण वेद में उपलब्ध हैं-प्र तद् वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम बिभृतं गुहा सत्। (यजुर्वेद- 32.9), वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सत्। (यजुर्वेद- 32.8)। ईश्वर की सार्वकालिक सत्ता का निर्देश इस मन्त्र में है-यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा (यजुर्वेद-32. 5)। ईश्वर सदा वर्तमानता के कारण सत्यस्वरूप है- अभि हि सत्य सोमपा (सामवेद-12.48)। यह ब्रह्म सृष्टि से पूर्व सत्-अस्तिरूप ही था-सदेव सौम्य इदमग्र

1. वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड-7)

आसीत् (छान्दोग्योपनिषद्- 6.2.1)। ब्रह्म सृष्टि से पूर्व भी था-ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् (बृहदारण्यकोपनिषद्-1.4.10)।

(2) **चित्**-ईश्वर ज्ञान का अधिष्ठाता है, वह ज्ञानस्वरूप है-**चिकित्वो अभि नो नय** (सामवेद-645)। ज्ञान चेतन में ही सम्भव है, जड में नहीं। इससे उसकी चिद्रूपता सिद्ध है। वेद का यह वचन देखिए-**ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन्** (अथर्ववेद-18.4.14)। इस मन्त्र का अर्थ यह है- (ईजानः) यज्ञ करने वाला (नाकस्य पृष्ठात्) सुख की स्थिति से (दिवम् उत्पतिष्यन्) मोक्ष के लिए उद्योग करता हुआ (चितम् अग्निम्) चेतन परमात्मा को (आरुक्षत्) प्राप्त होता है। वेद में ईश्वर को **यविष्ठ्य** (सामवेद-661)-सर्वाधिक वेगवान्, **मंहिष्ठ** (सामवेद-644-645)- सबसे बड़ा महादानी या पूजनीय, शविष्ठ (सामवेद-644, 648)-अत्यन्त बलवान् कहा गया है, जिनकी अन्विति चेतन में ही हो सकती है। ईश्वर को साक्षात् **प्रचेतन** भी कहा गया है- **प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे** (सामवेद-642)- हे चेतनस्वरूप व ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर, हमें यश और अन्न की प्राप्ति के लिए चेता। वह तो चेतनों का भी चेतन है-**चेतनश्चेतनानाम्** (कठोपनिषद्-5.13)।

(3) **आनन्द**-परमेश्वर सत् व चित् होने के साथ साथ आनन्द भी है। ईश्वर के आनन्दस्वरूप में पहला प्रमाण तो यही है कि वह परिपूर्ण है। वेद में उसे पुरुष कहा गया है। पुरुष का अर्थ है-सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वरः.....यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्।[1] यह प्रमाण भी देखिए-पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते (बृहदारण्यकोपनिषद्-5.1.1)। वेद में अनेक स्थलों पर ईश्वर को 'कः' कहा गया है। 'क' का अर्थ है सुखस्वरूप-कस्मै देवाय हविषा विधेम (यजुर्वेद-23.3)। वेद में मधु का अर्थ आनन्दस्वरूप भी है-**आ मित्रे वरुणे भगे मधोः पवन्त ऊर्मयः। विदाना अस्य शक्मभिः** (सामवेद-1235)। ईश्वर का एक नाम आनन्द भी है-आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्माद् यद् वा यः सर्वान् जीवानानन्दयति स आनन्दः, जो आननदस्वरूप, जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते और सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम आनन्द है।[2]

इस प्रकार ईश्वर की आनन्दरूपता में अनेक प्रमाण हैं।

2. निराकार विशेषण की वेदमूलकता-

द्वितीया नियम में ईश्वर के स्वरूप के बाद उसके स्वाभाविक विशिष्ट गुणों

---

1. दयानन्दयजुर्वेदभाष्य-31.1
2. सत्यार्थप्रकाश (समुल्लास-1)।

का परिगणन आरम्भ होता है। इनमें पहला गुण है-**निराकार।** कुछ अन्य पदार्थ भी निराकार हैं। जैसे आकाश, आत्मा, मन आदि। ये स्थूल इन्द्रियों से गम्य नहीं हैं। इसलिए इसे स्वरूप में परिगणित न कर विशिष्ट गुण माना है। यह स्थापित सिद्धान्त है कि आकारवान् कोई भी पदार्थ सर्वव्यापक नहीं हो सकता। इसलिए यदि ईश्वर को सर्वव्यापक मानते हैं, तो उसे निराकार भी मानना ही पड़ेगा। ईश्वर की निराकारता में यह प्रसिद्ध मन्त्र अन्तः प्रमाण है-**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम्** (यजुर्वेद-40. 8)। ईश्वर (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म व कारण शरीर से रहित है। यहाँ यह अर्थ स्वतः आपतित है कि जो शरीरवान् (साकार) है, वह ईश्वर नहीं हो सकता। वह अव्रणम्-व्रण रहित है। इसमें परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता अर्थात् उसमें परमाणु भी प्रविष्ट नहीं हो सकता क्योंकि साकार पदार्थ में ही छिद्र सम्भव है, निराकार में नहीं। इसलिए वेद ने अकायम् विशेषण की और अधिक पुष्टि अव्रणम् पद से की है। निराकार होने से वह बन्धनों से रहित है, नाड़ी साकार में सम्भव है, निराकार में नहीं। इसलिए उसे अस्नाविरम् भी कहा गया है। ईश्वर की निराकारता में अधिक स्पष्ट अन्तःप्रमाण क्या हो सकता है। उपनिषद् भी कहती है कि ईश्वर को कोई , ऊपर नीचे, मध्य से पकड़ नहीं सकता, क्योंकि वह अनन्त कीर्तिवान् ईश्वर अमूर्त अर्थात् निराकार है- नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥ (श्वेताश्वपरोपनिषद्-4.19)॥

3. सर्वशक्तिमान् विशेषण की वेदमूलकता-

ईश्वर, जीव व प्रकृति इन तीन तत्त्वों में कर्म करने की क्षमता चित्त्व होने से ईश्वर और जीव में ही है। दोनों में भेद यह है कि शरीरधारी जीव **अल्पशक्तिमान्** है और ईश्वर **सर्वशक्तिमान्**। अल्पशक्तिमान् होने से जीव को अधिकांश कर्मों के सम्पादन में किसी दूसरे जीव की सहायता लेनी ही पड़ती है। वस्त्र, रोटी, मकान, ज्ञान, विज्ञान सबमें ही जीव सहायता लेकर कार्य साधता है, जबकि सर्वशक्तिमान् होने से ईश्वर अपने समस्त कार्य स्वयं ही करता है। यही उसकी सर्वशक्तिमत्ता है। जीव की शक्तिमत्ता में अपूर्णता है और ईश्वर की शक्तिमत्ता में पूर्णता। दोनों के कर्म का क्षेत्र अलग अलग है। **जीव के निर्धारित कार्यों** को ईश्वर नहीं करता। ईश्वर न किसी के लिए खाना बनाता है, न चाय न पिज्जा। इसी प्रकार **ईश्वर के निर्धारित कार्य जीव नहीं कर सकता। जीव कभी** न सूर्य बना सकता है, न मंगल ग्रह और न ही धरती। ईश्वर **सर्वशक्तिमान्** इसलिए है कि समस्त ब्रह्माण्ड के संचालन का सम्पूर्ण **सामर्थ्य** उस में है। ईश्वर के इन सामर्थ्यों का वर्णन इन्द्र, वरुण, विष्णु, अश्विनौ आदि सूक्तों में देखा जा सकता है। यह सृष्टि ईश्वर ने अकेले ही उत्पन्न की है। इसलिए उसे सहस्त्रशीर्षा, सहस्त्राक्ष और सहस्त्रपात् कहा गया है-**सहस्त्रशीर्षा**

पुरुषः सहस्राक्षः सहस्त्रपात्। (ऋग्वेद-10.90.1)। वेद मं ईश्वर को **शुष्मी**[1] कहा गया है। शुष्मी का अर्थ है-सर्वशक्तिमान्। सारे जगत् का नियन्ता अकेला ईश्वर ही है, इसकी पुष्टि वैयाकरणों ने भी की है। वैयाकरणों की स्थापना है कि **काल सबसे** बड़ी शक्ति है और ईश्वर शक्तिमान् है। ईश्वर अकेला ही इस कालशक्ति के द्वारा जगत् का संचालन करता है। पेड़ पर बौर आना, फल पकना, सब्जियों का अपने आप अंकुरित होना, फिर समाप्त होकर नई सब्जियों, फलों का आना यह सब क्यों होता है। इसका कारण है काल। यह कालशक्ति ईश्वर की है। इसलिए ईश्वर ही सर्वशक्तिमान् है। वेद में ईश्वर को **शकुनि**[2] कहा गया है। शकुनि का अर्थ है-सर्वसामर्थ्यवान्।

4. न्यायकारी व दयालु विशेषण की वेदमूलकता-

सर्वशक्तिमान् ही पूर्ण न्यायकर्ता हो सकता है और न्यायकारी ही दयालु हो सकता है। तीन अनादि तत्त्वों में एक जड तत्त्व है-प्रकृति और चेतन तत्त्व दो हैं-ईश्वर व जीव। पूर्ण न्याय वही कर सकता है, जो सर्वविद् हो, अल्पज्ञ नहीं। अतः सर्वज्ञ होने से ईश्वर ही न्यायकारी है। वेद में ईश्वर को अर्यमा कहा गया है। अर्यमा का अर्थ है-न्यायकारी व न्यायकारी का अर्थ है-न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः, जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने का ही स्वभाव है। वेद में रुद्रदेवताक मन्त्रों में ईश्वर की न्यायव्यवस्था के प्रभूत सन्दर्भ विद्यमान हैं।[3] ईश्वर का एक नाम यम भी है। यम हमारे शुभ-अशुभ कर्मों व मार्गों को जानता है-**यमो नो गातुं प्रथमा विवेद** (ऋग्वेद-10.14.2)। वह यम ही कर्म करने वाले मनुष्यों को उनके कर्मों के भोगों के योग्य प्रदेशों की ओर ले जाता है। उसकी न्यायव्यवस्था कभी विच्छिन्न नहीं होती।

हम सामाजिक प्राणी हैं। हम दो व्यवस्थाओं में जीते हैं-एक ईश्वरीय व्यवस्था और दूसरी मानवीय व्यवस्था। यह सम्भव है कि पाप कर्म करने पर भी कोई व्यक्ति मानवीय व्यवस्था की आँखों में धूल झोंक कर दण्ड से बच जाए या साक्ष्यों के अभाव के कारण न्यायाधीश अपराधी को दण्ड न दे पावे, क्योंकि मानवीय व्यवस्था में अल्पज्ञता है, किन्तु ईश्वर तो सर्वज्ञ है। अतः सर्वज्ञ ईश्वर की व्यवस्था में न्याय से बचना सम्भव नहीं है। भले ही कोई किसी भी सम्प्रदाय के पूजाघर में प्रार्थना करे।

यहाँ प्रश्न यह है कि यदि किसी भी पूजापाठ से ईश्वर प्रसन्न होकर हमारे अपराध क्षमा नहीं करता, तो वह दयालु कैसे हुआ। ऋषि दयानन्द की यह बड़ी

1. सामवेद-1290
2. ऋग्वेद-2.8.12.2
3. यजुर्वेद- 9.29

मौलिक देन है कि न्यायकारी ही दयालु हो सकता है, अन्यायकारी नहीं। ईश्वर की हम पर यह दया ही है कि वह दुष्टों को रुलाता है। रुद्र की यह निरुक्ति देखिए-रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः।[1] दुष्टानां रोदयिता।[2] ईश्वर की दयालुता में ये तीन पक्ष हैं-(क) यदि ईश्वर पाप क्षमा नहीं करता तो वेद में ऐसी प्रार्थनाएँ क्यों हैं? प्रार्थना के फल के लिए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका द्रष्टव्य है। प्रार्थना और प्रायश्चित्तविधि में जीव अपने उदात्त भावों की अभिव्यक्ति करता है। जिसमें कर्मनिष्ठा भी है और पुनः उसी पाप कर्म को न दोहराने का संकल्प भी। मूल बात तो यह है कि ईश्वर अपराध क्षमा कर ही नहीं सकता। अपराध क्षमा करना दयालुता नहीं है। जिसके प्रति अपराध किया जाता है या जो अपराध से प्रभावित होता है, वही अपराध को क्षमा करने के लिए अधिकृत होता है। हमारे अपराध से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। वह निर्विकार है। हाँ, कल्पना किजिए **दुर्भागचन्द्र** ने **रविदत्त** को अपशब्द कहे या मार-पिटाई की और वह क्षमा मांगे किसी **हरिदत्त** से, तो क्या **हरिदत्त** को माफी देने का अधिकार है? नहीं। हाँ, प्रभावित **रविदत्त** चाहे तो क्षमा कर सकता है। अपराध साबित होने पर कोर्ट भी उसे क्षमा नहीं कर सकता। यही व्यवहार है। उदारचेता **ऋषि दयानन्द** ने विषय देने वाले **जगन्नाथ** को स्वयं ही क्षमा किया है। किन्तु यदि विष राजा को दे दिया जाता तो फिर ऋषि दयानन्द को भी क्षमा करने का अधिकार नहीं था। यदि अपराध किसी प्राणी या समाज के प्रति है, तो ईश्वर कैसे क्षमा कर सकता है। फिर भी ईश्वर इसलिए दयालु है कि जो व्यक्ति सारी उम्र ईश्वर को कोसता रहा, यदि वह जीवन के सन्ध्याकाल में भी ईश्वर के सान्निध्य में आना चाहे, तो उसे तुरन्त ईश्वर की अनुकम्पा प्राप्त होगी। वेद का च्यवन-आख्यान इसका उदाहरण है। यह क्या कम दयालुता है परमेश्वर की? जबकि लोक में इतना दयालु विरला ही होता है। **(ख)** ईश्वर की दयालुता का दूसरा पक्ष यह है कि परमेश्वर ने ही प्राणीमात्र के जीवन की सब व्यवस्थाएँ की हैं। शाक, फल, वनस्पतियाँ, सरित्, पर्वत, अन्न, ज्ञान का प्रकाश, सूर्य, चन्द्र से सब पर ईश्वर की दयालुता नहीं है क्या? **(ग)** ईश्वर की दयालुता में तीसरा पक्ष यह है कि न्यायकारी के समक्ष ही हम प्रार्थना किया करते हैं। हमारे उदात्त भावों की अभिव्यक्ति ही प्रार्थना है। वैदिक प्रार्थनाओं का यह सौन्दर्य देखिए-हे ईश्वर, सर्वशक्ति का सेवन करने और अन्नादि पदार्थों के देने वाले और महाबलवान् और वेगवान् आप उत्तम गुण और पदार्थों के सेवन करने और अन्नादि पदार्थों की वृष्टि करने वाले हो, अतः आप हम पर वर्षा कीजिए-**उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि। वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या सर्वतो नः शकुने**

1. सत्यार्थप्रकाश (समुल्लास-1)
2. दयानन्दयजुर्वेदभाष्य-3.58

भद्रमा वद विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद॥ (ऋग्वेद-2.43.2)। हे परमात्मन् आप हमारे माता पिता और प्रिय शरीरों की हिंसा मत करें-मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः (ऋग्वेद-1.114.8)। हमारा वध मत करें अर्थात् अपने से अलग हमको न करें-मा वनो वधीः (ऋग्वेद-1.114.7)। ईश्वर सब जगत् के बाहर और भीतर सूर्य के समान प्रकाश कर रहा है-देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा (ऋग्वेद-1.73.3)। इस प्रकार अनेक मन्त्रों में ईश्वर के दयालु रूप का वर्णन है। ईश्वर दयालु इसलिए है कि वह दुःखहर्त्ता है। ईश्वर त्वष्टा है। त्वष्टा का अर्थ है-त्वक्षति तनूकरोति दुःखानि-जो दुःखों को क्षीण करता है, वह सबको सुख देता है, इसलिए वह सुदत्र भी है-सुष्ठु सुखं ददाति सः।[1]

5. अजन्मा विशेषण की वेदमूलकता-

वेद में ईश्वर को अज कहा गया है-अजो ह्येको जुषाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। (श्वेताश्वतरोपनिषद्-4.5)। अजन्मा अर्थात् ईश्वर का जन्म नहीं हुआ है, इसीलिए उसकी शाश्वत सत्ता है। ईश्वर को सजन्मा मानने से उसे पूर्ण न्यायकारी और सर्वशक्तिमान् नहीं माना जा सकता। शरीर तो ससीम होता है। ससीम में असीम शक्ति और असीम ज्ञान कैसे सम्भव है? असीम में ही असीम शक्ति और असीम ज्ञान हो सकते हैं। इसलिए ईश्वर को अजन्मा माना गया है। ईश्वर स्वयम्भू है। स्वयम्भू का अर्थ है-यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वरः, जो आप से आप ही है, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे परमात्मा का नाम स्वयम्भू है। यजुर्वेद का यह प्रमाण भी द्रष्टव्य है- **प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते** (यजुर्वेद-31.19)। यहाँ स्वामी जी ने अजायमानः का अर्थ किया है-स्वस्वरूपेण अनुत्पन्नः।

6. अनन्त विशेषण की वेदमूलकता-

सजन्मा पदार्थ सान्त ही होता है। अतः अजन्मा होने से ईश्वर अनन्त भी है। अनन्त का अर्थ है- अविद्यमानोऽन्तो नाशो यस्य सः= जिसका अन्त, मृत्यु या नाश नहीं होता वह अनन्त है। अजन्मा होने से उसकी व्यापकता, शक्ति या ज्ञान को सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। इसलिए ऋषि दयानन्द ने अनन्त का अर्थ किया है-न विद्यतेऽन्तोऽवधिमर्यादा यस्य तदनन्तं (ब्रह्म)। जिसका जन्म नहीं, शरीर नहीं तो फिर बड़े, मोटे पतले की सीमा में वह कैसे बंध सकता है। वेद में ईश्वर की अनन्तता का अनेकत्र उल्लेख हुआ है-**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥** (यजुर्वेद-31.19)। पृथिवीलोक, चन्द्रलोक, बृहस्पतिलोक आदि सभी की सीमाएँ हैं, फिर भी मनुष्य के लिए तो यह

1. वही-2.24

ब्रह्माण्ड अनन्त है, पर वह ईश्वर तो ब्रह्माण्ड में क्या, इससे आगे भी ईश्वर ही ईश्वर है। यही कारण है कि वेद ने और उसी आधार पर स्वामी जी ने ईश्वर को अनन्त कहा है। उपनिषद् में ईश्वर को अनन्त कहा गया है-सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद्-2.1)। वह सूक्ष्म और महान् से महान् है-**अणोरणीयान् महतो महीयान्** (श्वेताश्वतरोपनिषद्-3.20)। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ब्रह्म (ईश्वर) को अनन्त कहा गया है-द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते (5.1), सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (2.1)। अथर्ववेद (10.8.12) भी उद्घोष करता है कि अनन्त ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है-**अनन्तं विततं पुरुत्रा।** यजुर्वेद भी कहता है कि **अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः** (33.38)।

7. निर्विकार विशेषण की वेदमूलकता-

ईश्वर सदा एकरस है। यास्क ने छः भावविकारों की चर्चा की है-**षड् भावविकारा भवन्ति।**[1] ये हैं-**1.** जायते (उत्पन्न होना), **2.** अस्ति (उत्पन्न होते ही किसी भी पदार्थ की सत्ता हो जाती है), **3.** विपरिणमते (परिवर्तन उपस्थित होता है), **4.** वर्धते (बढ़ता है), **5.** अपक्षीयते (क्षीण होता है) और अन्ततः **6.** नश्यति (नष्ट होता है)। उदाहरण के लिए वृक्ष पर विचार कीजिए। उसमें ये छः भावविकार हैं। प्राणी को लीजिए, उसमें भी यही भावविकार हैं। भले ही आत्मा स्वरूपतः शुद्ध है, विकार जीवात्मा के न हों, पर शरीर जीवात्मा के शरीर में होने से ये जीवात्मा भी विकारवान् हो जाता है। जीवात्मा में शारीरिक विकार सम्भव नहीं हैं, शरीर में विकार होते हैं। जीवित शरीर में ऐन्द्रिक विकार व मानस विकार होते हैं, किन्तु ईश्वर तो अजन्मा है। अतः उसमें विकार का प्रश्न ही नहीं है। हाँ, अवतारी मानने पर ईश्वर को निर्विकार नहीं माना जा सकता। इस प्रकार ईश्वर अजन्मा होने से निर्विकार भी स्वतः सिद्ध है। ईश्वर सत्त्व, रजस्, तमस् से रहित है। इसलिए इनके गुण प्रकाशकत्व, चंचलता व मोह से भी सर्वथा पृथक् है। कर्मविपाक व क्लेश से भी दूर है-**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः** (योगसूत्र-1.24)। ईश्वर राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह आदि से रहित है, अतः विकार की कल्पना भी अयुक्त है। स्वामी जी ने एक प्रश्न उठाया है कि-ईश्वर रागी है या विरक्त। फिर समाधान किया है कि-दोनों में नहीं। क्योंकि राग अपने से भिन्न उत्तम पदार्थ में होता है, सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् या उत्तम नहीं, इसलिए उसमें राग का सम्भव नहीं। और जो प्राप्त को छोड़ देवे, उसको विरक्त कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता, इसलिए विरक्त भी नहीं।[2] इसलिए ईश्वर को निर्विकार कहा गया है। राग, द्वेष आदि विकार हैं, पाप के हेतु हैं, जबकि ईश्वर तो

1. निरुक्त- 1.1
2. सत्यार्थप्रकाश (समुल्लास-7)।

अपापविद्ध[1] है। वह निर्विकार इसलिए है कि उस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्मस्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है-नेह नानास्ति किंचन (कठोपनिषद्-2.4.11) तथा वह पाप जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित है-**य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः** (छान्दोग्योपनिषद्-8.7.1)।

8. अनादि विशेषण की वेदमूलकता-

ईश्वर के अजन्मा, अनन्त और निर्विकार होने से उसका अनादित्व भी सिद्ध होता है। ईश्वर के अनादित्व में सबसे बड़ा वैदिक प्रमाण तो यही है कि उसके आरम्भ का एक भी प्रसंग वेद में नहीं है। उसकी अपने आप में सत्ता है, इसीलिए उसे स्वयम्भू कहा गया है। स्वयम्भू का अर्थ है-सनातन स्वयंसिद्ध।[2] वेद कहता है-**अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन** (अथर्ववेद-10.8.12)। अनादि शब्द का अर्थ है- न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः। वह अपना आत्मा आप ही है- **स य एषोणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा** (छान्दोग्योपनिषद्-6.8.7)।

9. अनुपम विशेषण की वेदमूलकता-

दो पदार्थों में साधर्म्य होने पर उपमा होती है। किन्तु ईश्वर का साधर्म्य अर्थात् वाच्य सादृश्य संसार में है ही नहीं। ब्रह्माण्ड में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो ईश्वर का उपमान बन सके। उपमा सान्त की अपने से उत्तम पदार्थ से होती है, ईश्वर तो अनन्त है। अतः अनन्त की सान्त से उपमा अयुक्त है। वेद के अधिकांश मन्त्रों में ईश्वर के अनुपम स्वरूप का ही विवरण है। संसार में कोई दूसरा ऐसा नहीं है जो सत्, चित् व आनन्द भी हो। ईश्वर को समझने के लिए वाक् का आश्रय लेना पड़ता है, जबकि उसका सम्पूर्ण स्वरूप वाक् का विषय नहीं है-**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन** (मुण्डकोपनिषद-2.3)। ईश्वर की अनुपमता का इससे बढ़कर उदाहरण क्या होगा कि-हाथ नहीं पर अपनी शक्ति से सबकी रचना करता है, पैर नहीं पर सबसे अधिक वेगवान्, बिना आँख, कान के वह कुछ देखता न सुनता है, और तो और उसको अवधि सहित जानने वाला कोई भी नहीं है-**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्।** (श्वेताश्वतरोपनिषद-3.19)।

---

1. यजुर्वेद-40.8
2. अथर्ववेद-10.8.12

10. सर्वाधार विशेषण की वेदमूलकता-

ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि लोक अपनी अपनी परिधि में घूम रहे हैं। क्या ये ग्रह अपने आप ही बिना कारण के यूँ ही घूम रहे हैं या इनका आधार है। वेद इसका सामधान करता है-**या गौर्वर्त्तनिं पर्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः** (ऋग्वेद-10.65.6), ये गौ (लोक) अपने अपने मार्ग में घूमते हैं और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है। अर्थात् परमेश्वर ने जिस जिस के घूमने के लिए जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है, उस उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं।[1] पुनः ऋग्वेद (8.12.28) ने स्पष्ट किया है कि-यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवे दिवे। आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (आकर्षणानुकर्षण) में यह भाषार्थ दिया गया है-हे इन्द्र परमेश्वर, आपके अनन्त बल और पराक्रम गुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आपके ही सब गुण सूर्यादि लोकों को धारण करते हैं। वेद के इन वचनों पर भी ध्यान दीजिए-

(क) स दाधार पृथिवीं द्याम्। (यजुर्वेद-13.4)।

(ख) यदा सूर्यममुं दिवि शुक्रं ज्योतिरधारयः (ऋग्वेद-8.12.30)-सूर्यादि लोकों को रच कर हे ईश्वर, तुमने ही धारण किया है।

(ग) व्यस्तभ्नात् रोदसी.....विश्वमधत्त वृष्णयम्(ऋग्वेद-6.8.3)-हे ईश्वर, द्युलोक व पृथिवी लोक को आपने ही स्तम्भित किया है और.....इस प्रकार सारे विश्व जगत् को तुम ही धारण करते हो। यह बात ध्यान देने की है कि जब से सृष्टि बनी है, तब से अगणित ग्रह घूम रहे हैं वह भी व्यवस्था से। कभी नहीं सुना कि चांद, सूर्य या पृथिवी में कभी टक्कर हुई हो। जिनका आधार होता है, उसमें व्यवस्था होती है। प्राणियों को खाद्य, पेय, कर्मफलव्यवस्था आदि सब आधार ईश्वर ने ही दिए हैं। ब्रह्माण्ड की सारी व्यवस्था ईश्वर के सामर्थ्य से ही हो रही है। बिना आधार के किसी भी व्यवस्था का चलना सम्भव नहीं है। ईश्वरीय आधार सर्वथा निर्दुष्ट है। इसलिए वह सर्वाधार है। सामवेद (1243) में ईश्वर को धर्त्ता कहा गया है-**दिवो धर्त्ताऽसि**, तू द्युलोक को धारण करता है, **त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र धर्त्ता पुरामसि** (सामवेद-1249)- हे परमेश्वर, तू प्रवाहरूप से अनादि लोकलोकान्तरों को धारण कर रहा है। **इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता** (सामवेद-1250)-ईश्वर सब के कर्म का धारण करने वाला है।

11. सर्वेश्वर विशेषण की वेदमूलकता-

विश्व का आधार होने के साथ ही ईश्वर ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अधिपति

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृथिव्यादलोकभ्रमणविषय)

भी है। इसलिए उसे सर्वेश्वर कहा गया है। जिसके अधीन व्यवस्था होती है, वही उसका अधिष्ठाता या ईश्वर (स्वामी) होता है। इसलिए वेद कहता है-**यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्** (ऋग्वेद-10.129.7)। ईश्वर ही सर्वेश्वर है-यहाँ ईश्वर शब्द को यौगिक समझना चाहिए। प्रथम ईश्वर शब्द पारिभाषिक होने से विशेष अर्थ परमात्मा का बोधक है और सर्वेश्वर में ईश्वर का अर्थ अधिष्ठाता, अधिपति, ऐश्वर्यवान् और समर्थ है। सर्वेश्वर का अर्थ यह नहीं है कि जो कुछ दुनिया में होता है, वह ईश्वर की इच्छा से होता है। क्या बलात्कार, डकैती, हत्या, अपहरण, बमविस्फोट, महामारी-ये सब ईश्वर चाहता है? नहीं। ईश्वर तो अपने आधिपत्य में जीव को आगे बढ़ने के सब अवसर प्रदान करता है। अवसर का उपयोग वा दुरुपयोग करना जीव के आधीन है। ईश्वर सारे विश्व का शासक है, वह दोपाए, चोपाए अर्थात् मनुष्य व पशुओं का कल्याण करता है-**इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे** (यजुर्वेद-36.8)। उपनिषद् कहती है कि यह ईश्वर सर्वेश्वर व सर्वज्ञ है-**सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः** (माण्डूक्योपनिषद्-9)। आर्यसमाज के इस नियम में इसीलिए ईश्वर को सर्वेश्वर कहा गया है।

सत्यार्थप्रकाश (प्रथम समुल्लास) में ईश्वर का एक नाम विश्वेश्वर भी पठित है। इसका अर्थ है-यो विश्वमिष्टे स विश्वेश्वरः, जो जगत् का अधिष्ठाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम विश्वेश्वर है। इसी के आधार पर यह निरुक्ति की जा सकती है-यः सर्वं चराचरं जगद् ईष्टे स सर्वेश्वरः, जो सारे चराचर जगत् का अधिष्ठाता है, इससे वह सर्वेश्वर है।

12. सर्वव्यापक विशेषण की वेदमूलकता-

ईश्वर अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है-**अणोरणीयान् महतो महीयान्** (श्वेताश्वतरोपनिषद्-3.20)। ईश्वर की सर्वव्यापकता का प्रसिद्ध प्रमाण यह है-**स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु** (यजुर्वेद-32/8)- वह विभुः व्यापक व प्रजाओं में ओत-प्रोत है। सामवेद में ईश्वर को वात कहा गया है। बात का अर्थ है-व्यापक-**वात आवातु भेषजम्।**[1]- हे (वात) व्यापक परमेश्वर, (भेषजम् आवातु) हमें ओषधी प्रदान कीजिए। इसी प्रकार **उत वात पितासि न भ्रातोत नः सखा स नो जीवातवे कृधि**[2]- हे (वात) सर्वव्यापक परमेश्वर, तू हमारा पिता, भ्राता तथा सखा है। तू हमें दीर्घ जीवन दे। वेद कितनी स्पष्टता से कहता है कि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है-स पर्यगात् (यजुर्वेद-40.8)। सम्पूर्ण जगत् ईश्वर से आच्छादित है-**ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्** (यजुर्वेद-40.1)। वेद में ईश्वर को

1. सामवेद-1840
2. वही-1841

आपः भी कहा गया है। स्वामी जी ने आपः का यौगिकार्थ किया है-सर्वव्यापक।[1]

वेद में अनेक प्रकाण हैं, जहाँ ईश्वर को सर्वव्यापक कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी पदार्थ ईश्वर में नहीं, बल्कि ईश्वर प्रत्येक पदार्थ में व्यापक है। ईश्वर जीव से सूक्ष्म है। कोई भी पदार्थ अपने से सूक्ष्म पदार्थ में प्रविष्ट नहीं हो सकता, हाँ स्थूल में रह सकता है। ईश्वर तो प्रविष्ट ही नहीं, व्यापक भी है। जैसे लोहा स्थूल है और अग्नि सूक्ष्म। इसलिए अग्नि लोहे में प्रविष्ट कर व्याप्त रूप में रह सकती है। बिजली के तार स्थूल हैं, उनमें बिजली सूक्ष्म और निराकार होने से व्याप्त हो सकती है। इसी प्रकार ईश्वर के सूक्ष्मतम किंवा निराकार होने से उसकी व्यापकता में कोई दोष वा आपत्ति नहीं है। व्यापक होने के कारण ईश्वर को विष्णु भी कहा गया है।

13. सर्वान्तर्यामी विशेषण की वेदमूलकता-

तार में निराकार बिजली व्याप्त है, किन्तु वह अन्तर्यामी नहीं है। जड़ पदार्थ अन्तर्यामी नहीं हो सकता। परमेश्वर सर्वव्यापक होने के साथ साथ सर्वान्तर्यामी भी है। अन्तर्यामी का अर्थ है-अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽन्तर्यामी। जो सब प्राणी और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक होके सब का नियम न करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम अन्तर्यामी है। वेद कहता है-**अग्ने त्वं नोऽअन्तमः** (यजुर्वेद-3.25)-हे अग्निस्वरूप ईश्वर! तुम ही हमारे अन्तम-अन्तर्यामी अर्थात् जीवन के हेतु हो। ईश्वर पूरे ब्रह्माण्ड में व्यापक होते हुए भी जीव और प्रकृति से पृथक् है। परमेश्वर जीव में स्थित भी है और भिन्न भी। उपनिषद् कहती है कि इस बात को मूढ जीवात्मा समझता नहीं है। यह परमेश्वर जीव में व्यापक व भिन्न रह कर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है, इसलिए वह अन्तर्यामी है-**य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरीयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोऽन्तरोऽयमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः** (श.ब्रा.-14.5.5.30)।

परमेश्वर अन्तर्यामी होने के कारण जीवात्मा के प्रत्येक कर्म का साक्षी है। इसीलिए वह कर्मों के फलों को यथावत् देता है-यद् ब्रह्म सर्वस्य प्रकृत्यादेर्बाह्याभ्यन्तरावयवानभिव्याप्य सर्वेषां जीवानामन्तर्यामिरूपतया सर्वाणि पापपुण्यात्मकर्माणि विजानन् याथातथ्यं फलं प्रयच्छत्येतदेव सर्वैर्ध्येयमस्मादेव सर्वैर्भेतव्यमिति।[2]

इस प्रकार सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी ये दोनों शब्दों कुछ विशिष्ट अर्थ को कहते हैं। उपनिषद ने ईश्वर को साक्षात् रूप से सर्वव्यापी और अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) भी कहा है-**यत्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्** (श्वेताश्वतरोपनिषद्-3.9),

1. दयानन्दयजुर्वेद भाष्य-32.1
2. वही-40.5

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा (श्वेताश्वतरोपनिषद्-3.13), **अन्तर्याम्येषः** (माण्डूक्योपनिषद्-6)। अतः दोनो पर्यायवाची नहीं हैं।

14. अजर व अमर विशेषण की वेदमूलकता-

अजर का अर्थ है कभी भी जीर्ण न होना और अमर का अर्थ है प्राणवियोग न होना। पाणिनि ने मृङ् धातु को प्राणवियोग अर्थ में माना है अर्थात् प्राणवान् का ही प्राणवियोग सम्भव है। ईश्वर प्राणवान् न होने से स्वतः अमर सिद्ध है। जीर्णता और मृतता कालावच्छिन्न में ही सम्भव है। पतञ्जलि ने ईश्वर को काल से अनवच्छिन्न माना है-**पूर्वेषामपि गुरु-कालेनानवच्छेदात्** (योगसूत्र-1.26)। ईश्वर की अजरता व अमरता में कुछ प्रमाण दिए जा रहे हैं-

- **वेदा ह्येतमजरं पुराणम्** (श्वेताश्वतरोपनिषद-3.21)

- ससीम की शक्तियाँ ससीम व जीर्णशील होती हैं और असीम की शक्तियाँ असीम व अजर होती हैं। वेद कहता है कि हे परमेश्वर, तेरी अजर अमर प्रकाशमयी शक्तियाँ सर्वत्र विचरती हैं-**उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजराः इधानाः** (सामवेद-1221)।

हे परमेश्वर, तू यविष्ठ अर्थात् अजर है और मनुष्यों की रक्षा करता है, उनकी स्तुति सुनता है और पालन करता है-त्वं यविष्ठ दाशुषो नृः पाहि शृणुही गिरः। रक्षा तोकमुत त्मना॥ (सामवेद-1246)॥

- हे ईश्वर, हम तुझ प्रकाशस्वरूप और अजर अमर का ध्यान करते है-आ त अग्न इधीमहि द्युमन्तमजरम् (सामवेद- 419 व 1022)।

- शास्त्रों में ईश्वर को अमृत कहा गया है। अमृत व अमर का अर्थ है-अविनाशी। **विद्ययाऽमृतमश्नुते** (यजुर्वेद-40.14)। विद्या से अविनाशी परमात्मा को प्राप्त होता है। यहाँ ब्राह्मणकार कहते हैं-अमृतं वै प्रणवः।[1]

- अजर व अमर की सम्पूर्ण शक्ति व सामर्थ्य भी अजर अमर ही होगा। इसलिए उसका काव्य भी अजर अमर है-**पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति** (अथर्ववेद-10.8.32)।

- ईश्वर युवा है, न वह कभी शिशु था और न कभी वृद्ध होगा। यहाँ युवा का तात्पर्य अजर ही है-**येषामिन्द्रो युवा सखा** (सामवेद- 1338 व 1340)।

- वेद में ईश्वर को अव्यय कहा गया है। अव्यय का अर्थ अमर व अविनाशी है- **शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः। पवन्ते वारे अव्यये।** (सामवेद-

1. गोपथब्राह्मण (उत्तर-3.11)।

1035)। वैदिक भाषा में अव्यय का अर्थ अविनाशी (अमर) परमेश्वर है-तदव्ययीभूतमन्वर्थवाची शब्दो न व्येति कदाचनेति।[1]

स्वामी जी ने जो ईश्वर का अजर अमर कहा है, वह वस्तुतः वेद और उपनिषदों की भाषा है।

15. अभय विशेषण की वेदमूलकता-

जो तत्त्व सर्वशक्तिमान्, अनादि, अनन्त, न्यायकारी, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर व अमर है, वह सभय कैसे हो सकता है? भय के कारण दुर्बलता व अभाव होते हैं। अतः सर्वशक्तिमान् व परिपूर्ण ईश्वर तो अभय ही है। संसार में मनुष्य के लिए सबसे बड़ा भय तो मृत्यु का भय है। वेद कहता है-मृत्योर्मा बिभेः। यहाँ ईश्वर की अभयता का उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि मनुष्य जिसकी उपासना या सान्निध्य श्रद्धापूर्वक करता है, उसके गुणों या दुर्गुणों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। ईश्वर सर्वथा भयरहित है। इसलिए जो अभयस्वरूप ईश्वर की उपासना करेगा उसमें भय क्षीण होने लगेगा। वेद में ईश्वर को आत्मबल देने वाला कहा गया है-**य आत्मदा बलदा** (यजुर्वेद-25.13)। **पुनश्च यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शंन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।** यजुर्वेद (36.17) यह ईश्वर की अभयता का प्रमाण है। अभयस्वरूप ब्रह्म को समझने के बाद भय छूट जाता है-**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति।** (तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली-4)। इस सब के आधार पर स्वामी जी का यह कथन बड़ा स्पृहणीय है-परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिए। इससे इसका फल पृथक् होगा परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा, वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सबको सहन कर लेगा। क्या यह छोटी बात है?

कुछ पौराणिक कथाओं में या साहित्यिक शैली में ईश्वर को सभय दिखाया गया है। दैत्यों के उत्पात से ईश्वर को भयभीत दिखाना तात्त्विक दृष्टि से तर्कहीन है।

16. नित्य विशेषण की वेदमूलकता-

जीव के ज्ञान, कर्म व स्वभाव में क्रमिकता और न्यूनता होती है, जबकि ईश्वर के ज्ञान, कर्म व स्वभाव सदा नित्य ही हैं। परमेश्वर नित्यध्रुव है-यो नित्यध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः। उसके प्रत्येक कर्म में नित्यता है। इसलिए जैसे जीवात्मा और परमात्मा की सूक्ष्मता के अन्तर है, वैसे नित्यता में भी अन्तर है।

1. वही (पूर्व-1.26)।

ईश्वर एकरस है। वह कूटस्थ है। कूटस्थ की निरुक्ति देखिए-यः कूटस्थेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः, जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार होके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता, इससे परमेश्वर का नाम कूटस्थ है।

योगियों और विद्वानों के ज्ञान में वृद्धि-ह्रास होता रहता है। किन्तु परमेश्वर के ज्ञान में न वृद्धि होती है और न ही क्षय। इसलिए वह त्र्यम्बक है। त्र्यम्बक का अर्थ है- अमति येन ज्ञानेन तदम्बं, त्रिषु कालेष्वेकरसं ज्ञानं यस्य सः।[1] नित्य ईश्वर का प्रत्येक कर्म नित्य है, ज्ञान नित्य है, सृष्टिक्रम नित्य है। यह नित्यता उसमें स्वरूपगत है। परमेश्वर को नक्षत्र भी इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि वह नित्य है। ब्राह्मणकार ने नक्षत्र की यह निरुक्ति की है- तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं यन्न क्षियन्ति।[2] नित्य परमात्मा की वाणी भी नित्य है। इसलिए भारतीय मनीषा वेद की नित्यता स्वीकार करती है-अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतःप्रमाण्यं सर्वविद्यावत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सिद्धम्।[3]

17. पवित्र विशेषण की वेदमूलकता-

ईश्वर को शुद्ध और पापरहित कहा गया है-शुद्धमपापविद्धम् (यजुर्वेद-40.8)। शुद्ध का अर्थ है अविद्यादि दोषों से पृथक्। कोई पाप या दोष न होने से वह पवित्रतम है। कुछ अन्य वैदिक प्रमाण देखिए-

- ईश्वर को शोचिष्ठ कहा गया है- **तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः** (यजुर्वेद-3.26)। शोचिष्ठ का अर्थ है पवित्रतम।

- पवित्रतम होने से ईश्वर पवित्र विद्याओं का दाता है। वह स्वयं पवित्र है, इसीलिए उससे पवित्रता की प्रार्थना की गई है-**यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने विततमन्तरा। ब्रह्म तेन पुनातु मा** (यजुर्वेद-19.41)।

- वह पवमान और पोता (शुद्धस्वरूप) है- **पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः। यः पोता स पुनातु मा** (यजुर्वेद-19.42)।

- **इन्द्र शुद्धो न आ गहि** (सामवेद- 1404)- हे ऐश्वर्यवान् परमेश्वर, शुद्धस्वरूप हमें प्राप्त हो।

- **दिवो धर्त्तासि शुक्रः** (सामवेद-1243)- वह शुद्धस्वरूप द्युलोक का धारण करने वाला है।

---

1. दयानन्दयजुर्वेदभाष्य-3.58
2. गोपथब्राह्मण (पूर्व-2.8)।
3. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदनित्यत्वविषय)

– **पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते** (सामवेद-565)- हे ब्रह्मणस्पति-वेदों के स्वामी ईश्वर, तेरी पवित्रता विस्तृत है।

– **पावकवर्चाः शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना** (सामवेद-1817)- हे परमेश्वर, तू पवित्रकारक तेज वाला, शुद्ध तेज वाला, पूर्ण तेज वाला अपनी दीप्तियों से प्रकाशित हो रहा है।

इस प्रकार वेद में पवमान, पूयमान, पावक, शुक्र, पोता आदि अनेक विशेषणों का प्रयोग ईश्वर के लिए हुआ है, जिससे उसके पवित्र स्वरूप का कथन बार बार हुआ है।

18. सृष्टिकर्ता विशेषण की वेदमूलकता-

वैदिक मन्त्रों में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता कहा गया है। सृष्टिकर्त्ता का तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर ने जीवों या मूलप्रकृति को उत्पन्न किया। ईश्वर तो निमित्त कारण है सृष्टि का और प्रकृति उपादान कारण है। ईश्वर की नियामकता का यह वैदिक प्रमाण देखिए-भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् (यजुर्वेद-13.4), **एक इद् राजा बभूव** (यजुर्वेद-23.3)। वेद में पुनः पुनः आने वाले **सविता** शब्द का अर्थ ही है-सब जगत् को उत्पन्न करने वाला परमेश्वर। **ऋषि दयानन्द** ने सविता का यह निर्वचन किया है-**सर्वेषां वसूनामग्निपृथिव्यादीनां त्रयस्त्रिंशतो देवानां प्रसविता अर्थात् तैंतीस देवों (आठ वसु-पृथिवी, अग्नि, वायु, चल, आकाश, चन्द्रमा और सूर्य; ग्यारह रुद्र-प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाम, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा; बारह आदित्य अर्थात् बारह मास; इन्द्र (बिजली) और प्रजापति (यज्ञ) की उत्पत्ति करने वाला)। ईश्वर प्राकृतिक पदार्थों व जीवात्मा को अपनी स्वाभाविक शक्ति से नियमन करता हुआ सृष्टि का निर्माण करता है।**[1] स्वामी जी ने **सविता** शब्द को **षुञ् अभिषवे** तथा **षूङ् प्राणिगर्भविमोचने** इन धातुओं से व्युत्पन्न माना गया है-**यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः; जो सब चराचर जगत् की उत्पत्ति करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम सविता है।** वह सर्वज्ञ परमेश्वर अपनी व्यापक शक्ति प्रकृति से संसार के समस्त पदार्थों का उसी प्रकार निर्माण करता है, जैसे रात्रि सूर्य के उदय के लिए उषा को आकाश में स्थान देती है- **इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवायैवा रात्र्युषसे योनिमारैक्** (सामवेद-1749)। वैदिक ऋचा कहती है कि यह

---

1. दयानन्दयजुर्वेदभाष्य-1.3

सब जगत् जिससे उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त होता है, वह परमात्मा है-**इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद** (ऋग्वेद- 10.129.7)। उपनिषद् कहती है कि परमेश्वर से ही प्राणियों के जन्म होते हैं, उनकी पालना होती है, वही चराचर जगत् का कारण है-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति।** (तैत्तिरीयोपनिषद्-3.1)। विश्व का कर्त्ता, ज्ञाता, काल का भी काल, प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी तथा बन्ध व मोक्ष का हेतु वह ईश्वर ही है- **स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रपतिगुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥** (श्वेताश्वतरोपनिषद्-6.14)॥ यह वैदिक रूपक भी बड़ा स्पृहणीय है कि यह भूमि जिसका पादतल है और अन्तरिक्ष उदर है, जिसने द्यौ को सिर बनाया है, सूर्य और चन्द्रमा जिसकी आँख हैं, अग्नि को मुख बनाया है, वायु जिसके प्राण-अपान हैं, किरणें जिसकी आँख हैं और दिशाओं को जिसने प्रज्ञानी-ज्ञान कराने वाली (कान) बनाया है, उस ज्येष्ठ ब्रह्म को नमस्कार है-**यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥** (अथर्ववेद-10.7.32-34)॥ यह भी ध्यान दीजिए कि प्रत्येक कल्प में यह सृष्टि ऐसी हो होती है-**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥** (ऋग्वेद-10.190.3)॥

एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि यदि सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है तो वह सृष्टि क्यों बनाता है? यदि जगत् ही न हो तो दुःख, दुरित, क्लेश, पीडा भी नहीं होंगे। अतः सृष्टिरचना का प्रयोजन क्या है?

इसका बड़ा ही व्यावहारिक समाधान दयानन्ददर्शन में मिलता है। कल्पना कीजिए आप में लेखन का गुण है, तो उसकी सार्थकता उसके प्रकटीकरण में ही है। यदि किसी में कहानी या कविता के लेखन का गुण है, तो उसे कहानी या कविता लिखनी चाहिए या नहीं? सब कहेंगे लिखनी चाहिए। किसी में गायन का गुण है तो इस गुण की सार्थकता इसी में है कि वह गीत गाए। क्रिकेटर क्रिकेट न खेले, गीतकार गीत न लिखे, रेस्लर रेस्लिंग न करे, वेद का विद्वान् वेद पर न कुछ बोले न लिखे तो फिर गुणवत्ता कैसी? क्योंकि गुण की सार्थकता उसके प्रस्तुतिकरण में ही है। ईश्वर में सृष्टि को रचने का सामर्थ्यरूप गुण है, अतः उसकी सार्थकता इसी में है कि वह सृष्टिनिर्माणक करे। इस प्रकार ईश्वर ही सृष्टिकर्त्ता है।

19. 'उसी की उपासना करनी योग्य है' की वेद मूलकता-

उसी की उपासना करनी योग्य है, इससे यह अर्थापत्ति स्वयं हो जाती है कि उसके अतिरिक्त किसी की उपासना न करें। ईश्वर का स्वरूप समझ में आ जाए तो फिर कौन व्यक्ति उस ईश्वर से अतिरिक्त की उपासना करेगा। यह स्वाभाविक बात है कि यदि किसी को राजा, अमात्य, सेनापति, राजसेवक-इनकी उपासना (सेवा) का अवसर मिले तो बुद्धिमान् व्यक्ति राजा का ही चयन करेगा। हमारे समक्ष भी अनेक विकल्प हैं। उनमें एक विकल्प इस ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता है, तो क्या उस व्यक्ति को बुद्धिमान् मानेंगे जो सम्पूर्ण जगत् के स्रष्टा सर्वशक्तिमान्, परम दयालु परमेश्वर को छोड़ कर किसी अन्य की उपासना करे? इसलिए एकमात्र परमेश्वर ही उपासनीय है- सर्वैर्मनुष्यैर्येन परमेश्वरेण पृथिवी-सूर्य-त्रसरेणुभेदेन त्रिविधं जगद् रचयित्वा ध्रियते स एवोपासनीयः।[1] ईश्वर के अतिरिक्त किसी की भी उपासना नहीं करनी चाहिए- सर्व एकमद्वितीयमीश्वरं विहाय कस्याप्युपासनं कदाचिन्नैव कुर्युः।[2] ईश्वर का जो स्वरूप बताया गया है, उसे योगाभ्यास से जानकर उपासना करें- हे मनुष्याः। यस्य निर्माणेन सर्वे कालावयवाः जाता यच्चोर्ध्वमधो मध्ये पार्श्वतो दूरे निकटे वा कथयितुमशक्यं तत् सर्वत्र पूर्णं ब्रह्मास्ति, तद्योगाभ्यासेन विज्ञाय सर्वे भवन्त उपासीरन्। वेद निर्देश देता है कि उस पवित्र परमात्मा की स्तुति करो- सखाय आ नि षीदत पुनानाय प्र गायत (सामवेद-568), तं वः सखायो मदाय पुनानमभि गायत (सामवेद-569)। वेद कहता है कि उस परमात्मा की प्रार्थना तथा शरणागति से अपने को रक्षण तथा बलादि गुण प्राप्त होंगे, सब जगत् का करुणा करने वाला वह एक ही है-तमूतयो रणयञ्छूरसातौ त क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम्। स विश्वस्य करुणस्येश एको मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥ (ऋग्वेद-1.100.7)॥

एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि ईश्वर का स्वरूप हमने जान लिया, यह भी मान लिया कि वह सृष्टिकर्ता है और कर्मफलप्रदाता है, किन्तु उसकी उपासना क्यों की जाए? यहाँ सत्यार्थप्रकाश **(सप्तम समुल्लास)** का यह सन्दर्भ देखिए-

प्रश्न- क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति, प्रार्थना करने वाले का पाप छुड़ा देगा? उत्तर-नहीं। प्रश्न- तो फिर स्तुति, प्रार्थना क्यों करना?

उत्तर- उसके करने का फल अन्य है।

प्रश्न- क्या है?

---

1. वही-5.19
2. वही-4.16

उत्तर- स्तुति से ईश्वर में प्रीति उसके गुण कर्म स्वभाव से अपने गुण कर्म स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना।

स्वामी जी के इस कथन पर भी ध्यान दीजिए- 'इसका (स्तुति का) फल यह है कि जैसे परमेश्वर के गुण हैं वैसे गुण कर्म स्वभाव अपने भी करना। जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे। और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुणकीर्त्तन करता जाता और अपने चरित्र नहीं सुधारता उसका स्तुति करना व्यर्थ है।'[1]

अभिमान ही गृहक्लेश व सामाजिक क्लेश का मूल है। आत्मपतन का आरम्भ अभिमान से ही होता है। निरभिमानता संस्कृति है और अभिमान विकृति। निरभिमानता से व्यक्ति में गुणग्राहकता की शक्ति बढ़ती है। यह निरभिमानता प्रार्थना का फल है। प्रार्थना गुणरूपी लता की वृद्धि में खाद का काम करती है। इससे मनोभूमि अत्यन्त उर्वरा हो जाती है। उपासना का अभिप्राय है परमेश्वर के सान्निध्य का अनुभव करना और इसका का फल यह है- 'जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष दु:ख छूट कर परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण, कर्म स्भाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिए इससे इनका फल पृथक् होगा परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा, वह पर्वत के समान दु:ख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है? और जो परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है, क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिए दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना, ईश्वर को न मानना कृघ्नता और मूर्खता है।' उपासना के सुख को वाणी से कहना सम्भव नहीं है-

समाधिर्निधूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तथा स्वयं तदन्त:करणेन गृह्यते॥

(मैत्रायण्युपनिषद्-4.3.9॥)

इस प्रकार आर्य समाज के इस नियम में वेद व उपनिषदों में प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप का अत्यन्त सूत्रात्मक व सारगर्भित विवेचन हुआ है तथा इस नियम का प्रत्येक पद वेदमूलक है। यह नियम अपने आप में ईश्वरविषयक पूरा दर्शन है॥

✦✦✦

1. वही-32.2

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (46-52) July-December 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक राष्ट्रिय मूल्य-चेतना

-डॉ. अरुणा शुक्ला

संस्कृत विभागाध्यक्ष, बी.एल.एम. गर्ल्ज़ कॉलेज,
शहीद भगतसिंह नगर, नवांशहर (पञ्जाब)।

वेद सृष्टिविद्या के महनीय ग्रन्थ हैं एवं विश्व का प्राचीनतम साहित्य हैं। उनमें वैदिक राष्ट्रिय मूल्य-चेतना का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है उसको यदि आज उद्घाटित किया जाए तो ज्ञात होगा कि राष्ट्र या राष्ट्रिय मूल्य-चेतना की उससे बढ़कर कोई परिकल्पना नहीं हो सकती। राष्ट्र क्या है? राष्ट्रिय मूल्य-चेतना का क्या अभिप्राय है? वैदिक मूल्य क्या हैं? राष्ट्रिय मूल्य-चेतना में बाधक कौन-कौन से घटक हैं? तथा राष्ट्रिय मूल्य-चेतना की प्रतिष्ठा कैसे की जा सकती है। इन सभी प्रश्नों का सही एवं शाश्वत समाधान हमें वेद में दृष्टिगोचर होता है। प्रस्तुत शोध-पत्र में इन्हीं प्रमुख घटकों पर विचार किया गया है।

वेद ऐसी सर्वमान्य विद्या हैं जिनमें सम्पूर्ण मानव-जाति को प्रत्येक क्षण और प्रत्येक परिस्थिति में आचरण एवं व्यवहार करने के उपदेश दिए गए हैं। वेद का कथन है— '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**'[1]। सम्पूर्ण मानव-जाति को श्रेष्ठ और आर्य बनाने के लिये यह एक अति उत्तम विचार है।

मैत्रायणी संहिता में इस बात का उल्लेख किया गया है कि— '**राष्ट्रं प्रजा राष्ट्रं पशवो राष्ट्रं यच्छ्रेष्ठो भवति**'[2] अर्थात् प्रजा राष्ट्र है, पशु राष्ट्र हैं तथा जो कुछ श्रेष्ठ है वह राष्ट्र है। राष्ट्र तथा प्रजा का सम्बन्ध क्या है, इस विषय में तैत्तिरीय संहिता का कथन है— '**राष्ट्रं वै पर्णो विडश्वत्थः**'[3] अर्थात् राष्ट्र पर्ण है और प्रजा अश्वत्थ है। जिस प्रकार पत्ता वृक्ष पर आश्रित होता है, उसी प्रकार राष्ट्र जनता पर आश्रित होता है।

वेद हमारे शिक्षक भी हैं और शासक भी। शिक्षक के रूप में वे जहाँ 'स्वस्ति पन्थामनुचरेम'[4] के आदर्श पर मानव-मात्र को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध कराते हैं, वहीं शासक के रूप में अनुशासित रखकर समाज, देश तथा राष्ट्र को 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'[5] इस महान् संकल्प के साथ उत्तरोत्तर उत्कर्ष के पथ पर लेकर चलने की प्रेरणा

1. ऋ. 9.63.5
2. मै.सं. 3.4.8.2
3. तै.सं. 3.5.7.5
4. ऋ. 5.51.15
5. शु.यजु. 9.23

प्रदान करते हैं।

जिस राष्ट्र में हमारी सुदीर्घ-परंपरा विकसित होती आ रही है, उसके बौद्धिक विकास, उसकी सुरक्षा तथा उसकी समृद्धि के लिए नित्य जागरूक रहना ही राष्ट्रीय-चेतना है। यह राष्ट्रीय चेतना सांस्कृतिक चेतना का एक अनिवार्य अंग है। सौन्दर्य चेतना, नैतिक चेतना आदि के साथ ही राष्ट्रीय चेतना भी भौतिकता के धरातल से बहुत ऊपर है। राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्यवस्था में पुण्य-पाप की चेतना भौतिक नहीं। जिस राष्ट्र में हम रहते हैं यदि उसके प्रति स्नेह करेंगे तो हमें उच्चपद की प्राप्ति होगी या फिर उसका अहित करते हैं तो हमें मृत्युदण्ड मिलेगा—यह सोचकर यदि हमारे अन्तस् में राष्ट्रीय-चेतना का प्रस्फुरण होता है तो ये चेतना भौतिकता तथा उपयोगिता के धरातल पर प्रतिष्ठित कही जाएगी। जो चेतना जितनी ही भौतिकता तथा उपयोगिता के धरातल पर प्रतिष्ठित होगी, वह उतनी ही निक्ष्ट होगी; भौतिकता तथा उपयोगिता के धरातल से जितनी ही ऊपर होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट होगी। भौतिकता तथा उपयोगिता से प्रादुर्भूत यह चेतना स्वराज्य की स्थिति में तो 'राष्ट्रप्रेम' या 'देशप्रेम' के नाम से जानी जा सकती है किन्तु यही पराधीनता की स्थिति में राज्यद्रोह या देशद्रोह के नाम से जानी जाती है।

वैदिक राष्ट्रिय-मूल्यों की बात करने से पूर्व हमें यह जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्र क्या है? वैदिक वाङ्मय में 'राष्ट्र' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है जो इस प्रकार है—राष्ट्रम्[1], राष्ट्राणि[2], राष्ट्रेण[3], राष्ट्राय[4], राष्ट्रात्[5], राष्ट्रस्य[6], राष्ट्रानाम्[7] तथा राष्ट्रे[8],

---

1. ऋ. 4.42.1; 7.84.2; 10.104.3; 124.4; 173.1, 2, 5; शु.यजु. 10.24, 39, 419, 12.11, 20.8; तै.सं. 1.6.10.3; 8.11.12; 2.1.2.9; 4.7, 3.1.43, 5.1.1; 3.4.6.24, 8.111, 2, 3—3, 5.7.32, 4.2.1.4, 5.2.1.44; 7.72; 9.3, 7.4, 44; मैसं. 2.1.4; 5.4, 6.7, 3.1, 92, 3.73, 4.33, 7.4; 8.6; 11.8; 8.3.84, 9.4.1.22, 62, 6.32; काठ.सं. 15.65; 16.8; 19.11, 21.103; 124; 27.8, 37.116; 122; 3.8.4; अथर्व. 3.4.1, 8.1, 19.2, 5, 5.17.3, 4, 19.6, 7.82; 6.39.2; 87; 1; 2; 88.2; 128.1, 134.1, 7.36.1; 8.9.13; 10.3.12; 10.8; 11.7.7; 18; 12.3.10; 5.2; 13.1.1; 4.5; 8.20; 34, 35, 19, 41, 1
2. तैसं. 2.2.7.4; मैसं. 1.6.1, 2.7.8; काठ.सं. 7.12; अथर्व. 19.30.3
3. तै.सं. 3.4.8.1
4. ऋ. 10.174.1
5. तैसं. 3.4.6.2
6. ऋ. 10.124.5; मैसं. 2.1.11, 4.3.8; ऋ.खिल. 4.6.4; काठ.सं. 37.11, अथर्व. 3.4.5.2; 5.19.4; 6.54.2.2
7. ऋ. 7.3.4.1
8. ऋ. खिल. 2.6.7, 5.10.3, 4; शु.यजु. 9.23, 20.10, 22.22, तैसं. 1.7.10.1, 8.18.2, 3.4.8.3, 5.4.7.7, 7.5.18.11; मैसं. 1.11.4, 2.1.11, 3.12.6, 4.4.1; काठ.सं. 14.2, 38.4, 40.9, 45.14; अथर्व. 5.17.12-17, 19.10, 12.1.8, 13.1.9, 20.127.9, 10

राष्ट्रकामाय[1], राष्ट्रदा[2], राष्ट्रदिप्सु[3], राष्ट्रभृत्[4], राष्ट्रभृत्याय[5] इत्यादि समस्त पदों में भी राष्ट्र पद प्रयुक्त मिलता है। वैदिक संहिता-साहित्य में इन पदों से 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ का ज्ञान तथा उसके आधार पर राष्ट्र या राष्ट्रीयता की परिकल्पना की जा सकती है। 'राष्ट्र' शब्द दीप्ति अथवा शासन अर्थ की वाचक ङ्राज् धातु तथा ष्ट्रन् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होकर राज्य, साम्राज्य, देश, प्रजा आदि का वाचक माना जाता है। धात्वानुसार 'राष्ट्र' शब्द का मूल अर्थ है 'प्रकाशमान दीप्तिमान'। ऋग्वेद में 'राष्ट्रि'[6] क्रियापद का प्रयोग इसी अर्थ का समर्थन करता है जो वस्तु प्रकाशमान होती है, वही सर्वश्रेष्ठ और सबमें सुशोभित होती है। 'दीप्ति' का अर्थ केवल भौतिक प्रकाश ही नहीं अपितु शारीरिक एवं चारित्रिक शक्ति एवं सौन्दर्य भी है। किसी देश या भूखण्ड के शासन हेतु ऐसे शारीरिक एवं चारित्रिक शक्ति-शील-सौन्दर्य सम्पन्न व्यक्ति का वरण किया जाता है और इसलिये वह 'राजा' या 'सम्राट्' कहलाता है। तैत्तिरीय संहिता में ही एक स्थल पर ऋषि कहता है— **'राष्ट्रं वै वैश्वानरो विण्मरुतः'**[7] अर्थात् राष्ट्र वैश्वानर अग्नि है और प्रजा मरुत् है।

अब प्रश्न होता है कि राष्ट्रिय मूल्य-चेतना क्या है? प्रत्येक राष्ट्र की अपनी पृथक् राजनैतिक सत्ता होती है जिसमें राष्ट्रभूमि, राष्ट्रसंस्कृति तथा राष्ट्रभाषा महत्त्वपूर्ण अंग है। राष्ट्रभूमि की एक भौगोलिक सीमा होती है जिसके अन्तर्गत उस भूखण्ड की प्राकृतिक संपदा होती है जो राष्ट्र मानवजीवनोपयोगी प्राकृतिक संपदाओं से जितना ही सम्पन्न होगा, वह राष्ट्र उतना ही श्रेष्ठ माना जाता है। लेकिन इन मानवजीवनोपयोगी प्राकृतिक संपदाओं के प्रति वहाँ के निवासियों की दृष्टि किस प्रकार उच्च हो सकती है, यह विचारणीय है। किसी भी राष्ट्रभूमि की जो प्राकृतिक संपदा है, उसके संरक्षण तथा उसको विकसित करने के लिये सदैव सचेष्ट रहने की भावना एक मूल्यबोध है, उस राष्ट्र के रहने वाले प्रत्येक नागरिक के अंदर जब यह भावना उत्पन्न होती है कि उसके संरक्षण में ही वहाँ की जनता की सत्ता तथा समृद्धि निहित है तो यह राष्ट्रिय संसाधनों की मूल्य-चेतना उसमें जितनी ही अधिक होगी, वह राष्ट्र उतना ही समृद्ध होगा। इस मूल्य चेतना के अभाव में व्यक्ति जब अपने जीवनोपयोगी पदार्थों के लिये दूसरों के ऊपर आश्रित होने लगेगा तब वह राष्ट्र एक न एक दिन पराधीन हो जायेगा। यह हम सभी जानते

---

1. तैसं. 3.4.8.1
2. श.यजु. 10.24, 39, 419; तैसं. 1.18.11.12; मैसं. 2.6.73; काठ. सं. 15.6
3. अथर्व. 10.3.16
4. तैसं. 3.4.8.1, 2.4, 7, 5.4.9.3, 7.7.4, 5.7.4.9, अथर्व. 6.118.2, 7.114.6, 10.8.15, 13.1.35; तैसं. 3.4.6.2
5. अथर्व. 19.37.3
6. ऋ. 10.4.4
7. तैसं. 5.7.4.24

हैं कि जिस मिट्टी के अन्न से हम उत्पन्न हुए हैं, उसी मिट्टी का अन्न हमारे लिए औषधि है।

जिस राष्ट्र में व्यक्ति रहता है, उस राष्ट्र की एक सांस्कृतिक परंपरा होती है जो वहाँ के साहित्य में प्रतिबिम्बित होती है। उस सांस्कृतिक परंपरा के प्रति स्वाभिमान की भावना विकसित करना वहाँ के निवासियों का एक परम कर्त्तव्य बनता है। जिस राष्ट्र के निवासियों के अंदर अपने राष्ट्र के सांस्कृतिक मूल्यों के संरक्षण की भावना जितनी ही उत्कट होगी, वह राष्ट्र कभी दूसरे राष्ट्र की परम्पराओं से प्रभावित नहीं होगा। अन्य राष्ट्र की परम्पराओं के प्रति हम सम्मान करते हैं किन्तु अपनी राष्ट्रिय सांस्कृतिक परंपरा की कीमत देकर नहीं। इसी सांस्कृतिक परंपरा के प्रति प्रेम के कारण साहित्य का विकास होता है जिसमें राष्ट्र की परंपरा के प्रति स्वाभिमान निहित है। इस प्रकार अपनी सांस्कृतिक परम्परा की भावना एक उत्तम राष्ट्र मूल्य है। संपूर्ण वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार की सांस्कृतिक मूल्य-परम्परा के संरक्षण की मूल्य चेतना पाई जाती है। इसी का उल्लेख विश्वामित्र ने एक मंत्र में किया है—'**विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्**'[1] अर्थात् विश्वामित्र का यह जो ज्ञान है जो कि मंत्र के रूप में प्रस्फुटित हुआ है संपूर्ण भारतजन की रक्षा करने वाला है। इसी सांस्कृतिक मूल्यबोध के साथ अपने राष्ट्र की परंपरागत भाषा के प्रति आदर और सम्मान की भावना भी राष्ट्रिय-मूल्य के अन्तर्गत मानी जाती है। जिस राष्ट्र की अपनी भाषा नहीं वह राष्ट्र अपनी परम्परा की रक्षा नहीं कर सकता। भाषा तथा उस भाषा में लिखित साहित्य का प्रभाव जीवन पर पड़ता है। यह विश्वविदित है कि वेद सबसे प्राचीनतम वाङ्मय है। आज भारत में विकसित जितनी भी भाषाएँ हैं वह सब उसी स्रोत से कई अवस्थाओं को पार करती हुई अपनी आत्मा को सुरक्षित रखे हुए हैं। इस प्रकार जीवन को श्रेष्ठतम पथ पर चलने के लिये वहाँ की भाषा तथा उसमें विरचित साहित्य के प्रति सम्मान की भावना एक श्रेष्ठ राष्ट्रिय-मूल्य है।

राष्ट्रिय-मूल्य चेतना के अवरोधक घटक क्या हैं? और उनको कैसे दूर किया जाए। जब इस विषय में चिन्तन करते हैं तो हम पाते हैं कि संसार के किसी भी भाग में रहने वाले मनुष्य को आने वाली समस्याओं के विषय में वैदिक ऋषि सदैव सचेत करते रहे हैं और वे समाज के शुभचिंतक भी रहे हैं। समाज सुचारु रूप से चलता रहे, इस दृष्टि से वैदिक ऋषि वर्तमान तथा भविष्य की अनेक समस्याओं के निराकरण खोजते रहे हैं तथा इस सम्बन्ध में सावधान रहे हैं। इन्हीं अनेक समस्याओं में वैदिक तत्त्वों के अवरोधक के रूप में राष्ट्रिय-एकता की समस्या के विषय में वैदिक ऋषियों की दूरदृष्टि रही है। इस समस्या का वैदिक ऋषियों ने बड़ी गम्भीरता के साथ चिंतन किया है। किसी राष्ट्र अथवा जाति के नष्ट होने के क्या कारण हैं? यदि ऐसे मूलभूत कारणों को खोज लिया

---

1. ऋ. 3.53.12

जाए तथा उनका निराकरण किया जाए तो राष्ट्र बिखरने से बच सकता है। इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने राष्ट्र में अलगाववाद की समस्याओं पर वैदिक मंत्रों में विचार प्रकट किया है तथा उनके निराकरण खोजे हैं।

वैदिक राष्ट्रिय-मूल्य चेतना के साथ ही यह जान लेना भी उचित होगा कि राष्ट्र या जाति से क्या तात्पर्य है? क्या किसी देश के वासी राष्ट्र कहलाते हैं? क्या किसी विशेष सीमा के अन्तर्गत क्षेत्र या जाति राष्ट्र कहलाता है? नहीं ऐसा कदापि नहीं। न तो किसी देश का शासन ही राष्ट्र है और न किसी सीमा के अन्तर्गत क्षेत्र-विशेष ही राष्ट्र है। देखा जाए तो राष्ट्र में वह सबकुछ सम्मिलित होता है जो किसी देश में प्रचलित सभ्यता के द्वारा किया गया हो जिनकी देश के शासन और जनता द्वारा देखरेख होती रहती है। शासन चाहें बदलता रहे पर राष्ट्र ज्यों का त्यों बना रहता है। जनता में भी बदलाव आ सकता है पर राष्ट्र ज्यों का त्यों बना रहता है। हाँ, यदि सभ्यता एवं रीति-रिवाज बदल जाते हैं तो राष्ट्र कभी भी ज्यों का त्यों अपने मूल रूप में नहीं रह सकता। असल में सरकार तथा जनता राष्ट्र के प्रहरी, हितैषी और रक्षक होते हैं। यदि किसी देश के शासक वहाँ की जनता को दृढ़ विश्वास दिलाते हैं कि वह देश की सभ्यता (रीति रिवाज़ों) की रक्षा करेगी तो वहाँ के लोग सांस्कृतिक रीति रिवाज़ों को बड़े उत्साह के साथ जीवित रखते हैं।

राष्ट्र का यह संकल्प कोई नया संकल्प नहीं है। ऋषियों द्वारा वेदमंत्रों में यह पहले ही पूरी तरह स्थापित हो चुका है। जब भी उन ऋषियों ने इस विषय में कोई उपदेश दिया है तो इस राष्ट्र संकल्प को ध्यान में रखा है। वैदिक ऋषियों के अनुसार राष्ट्रिय मूल्य-चेतना को स्थापित करने के लिये जो प्रथम बात आवश्यक है वह है वहाँ की जनता तथा वहाँ के शासक में एकजुटता होने की और पूर्णतया तालमेल की। जिन लोगों की शासन के प्रति जिम्मेवारी है वह उनकी सभ्यता, सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के अनुसार कामकाज करें, जो रीति-रिवाज जनता के जीवन का भाग बन चुके हैं। राष्ट्रिय अलगाववाद का भय उस समय प्रकट होता है जब शासन चला रहे लोग अपने आप को जनता से विशेष मानने लगें। अथर्ववेद में वैदिक ऋषि राष्ट्रिय अलगाववाद के संकट के विषय में अधिक सजग प्रतीत होता है। जब वह राजा अथवा शासक के मुखारविन्द से कहलाता है— '**अहं राष्ट्रस्याभिवर्गे निजो भूयासमुत्तमः।**'[1] अर्थात् मैं अपने लोगों में 'उत्तम निज' होकर रहूँ। यह उत्तम निज का भाव ही हमें सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की श्रेणी में लाकर खड़ा कर देता है और इनके विपरीत इन वैदिक मूल्यों का अनुपालन न करने से हम निकृष्टतम होते चले जाते हैं। इसी प्रकार वैदिक मूल्यों का पारिवारिक पारस्परिक संबंधों के रूप में भी बहुत ही सुन्दर रूप हमें अथर्ववेद के इस कथन से स्पष्ट होता है—

---

1. अथर्व. 3.5.2

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमना।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शंतिवाम॥ (अथर्व. 3.30.2)

अर्थात् पुत्र पिता का आज्ञाकारी होवे। माता की अपनी संतान पुत्री-पुत्रों के प्रति समान सोच हो। पत्नी पति के प्रति मधुर और कल्याणकारी वचन बोलने वाली हो। इस प्रकार वैदिक ऋषि ने अपने कथन के माध्यम से पारिवारिक सदस्यों को परस्पर प्रेम के साथ एकजुट रहने की सलाह दी है। यजुर्वेद के अनुसार हमारी सोच ऐसी होनी चाहिये कि सारा संसार ही अपना परिवार प्रतीत हो— '**यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**'[1]।

राष्ट्रिय-एकता के लिये यह आवश्यक है कि हमारा सबके साथ विचार बहुत ही मित्रतापूर्ण होना चाहिये। इस विषय में यजुर्वेद का कथन है— '**मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्**'[2]। अर्थात् सारा संसार मुझे मित्र की दृष्टि से देखे। सारे प्राणियों की दृष्टि भी मेरी ओर मित्रतापूर्ण हो। हम भी दूसरों की ओर मित्रतापूर्ण दृष्टि से देखें।

मानव-जीवन में पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय एवं वैश्विक समन्वय स्थापित करना एक महती समस्या है। विश्व के चिन्तक, राजनेता, उपदेशक सभी अपनी-अपनी दृष्टि से समन्वय की बात करते हैं किन्तु समस्या का समाधान होता नज़र नहीं आता, क्योंकि सबकी दृष्टि से उनके चिन्तन में कहीं न कहीं कमी अवश्य रह जाती है। ऐसा कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं दिखाई पड़ता जो सबके लिए लागू हो। वेद में इस समस्या के समाधान के लिये तीन सूत्र दिए गए हैं, वे सिद्धान्त्र सूत्र हैं—संगमन का सिद्धान्त, संवदन का सिद्धान्त तथा संमनन का सिद्धान्त[3]।

वैदिक राष्ट्रिय एकता के लिये 'संगमन' या 'सहगमन' का सिद्धान्त क्या है? 'संगमन' का शाब्दिक अर्थ है एक साथ चलना किन्तु इस संगमन या सहगमन के पीछे वैदिक ऋषि की दृष्टि कुछ और है। राष्ट्र में सभी लोगों के कर्म बंटे हुए हैं। एक विशिष्ट कर्म जिन-जिन लोगों के लिये विहित किया गया है, उसकर्म को संपादित करने की पूर्ण जिम्मेवारी उन सभी लोगों की है। यदि सभी लोग उस कार्य को समान उत्तरदायित्व समझकर उत्साहपूर्वक कर रहे हैं तो यह कार्य 'संगमन' कहलाएगा। इसी प्रकार राष्ट्र के लोगों को प्रत्येक की योग्यता, दक्षता एवं रुचि को देखकर जो कार्य निर्धारित किए गए हैं, उन-उन लोगों के द्वारा उत्साहपूर्वक अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करना 'संगमन' कहलाएगा। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कर्म समान उत्तरदायित्व समझकर

---

1. यजु. 30.11.8
2. यजु. 36.18
3. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
   देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥ (ऋ. 10.191.2)

करे। इस विषय में अथर्ववेद कहता है— '**ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।**'[1] इस मन्त्र का 'सधुराश्चरन्तः' पद महत्त्वपूर्ण है और बताता है कि जैसे दो बैल जुआ को समान रूप से धारण करके चलते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को अपना कर्त्तव्य-कर्म करना चाहिए।

राष्ट्रिय-एकता का दूसरा सिद्धान्त है 'संवदन' अर्थात् 'सहवार्ता'। प्रायः देखा जाता है कि अनेक राष्ट्रिय महत्त्व के प्रश्न सहवार्ता के द्वारा सुलझाये जाते हैं। जब कोई व्यक्ति स्वयं को बड़ा समझकर दूसरे के साथ बात नहीं करता तो उससे राष्ट्रिय एकता की भावना कमज़ोर होती है वैदिक ऋषि कहता है— '**अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत**'[2] अर्थात् एक दूसरे के लिये प्रिय वचन बोलते हुये जाओ। इसी 'सहवार्ता' के विषय में स्पष्ट रूप से यजुर्वेद में कहा गया है— '**यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च**'[3] अर्थात् हम सभी के लिये, ब्राह्मण-क्षत्रिय के लिये तथा दूसरे लोगों के लिये कल्याणकारी वचन बोलें।

राष्ट्रिय-एकता का तीसरा सिद्धान्त है—राष्ट्र के सभी लोगों का राष्ट्र हित के लिए सह चिन्तन। इसी को 'संमनन' का सिद्धान्त कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का चिन्तन भिन्न-भिन्न होता है किन्तु यह चिन्तन इतना भिन्न न हो जाए कि राष्ट्रिय-एकता के लिये बाधक बन जाए। अथर्ववेद का ऋषि कहता है—

'**येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।**
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥' (अथर्ववेद 3.30.4)

इन्हीं वैदिक सिद्धान्त सूत्रों के आचरण से पारिवारिक सामाजिक, राष्ट्रिय एवं वैश्विक समन्वय स्थापित हो सकता है। यही राष्ट्रिय-एकता के वैदिक मूल्य राष्ट्र को एकसूत्र में बांधे रखने के लिये आवश्यक हैं।

✦✦✦

1. अथर्व. 3.30.5
2. अथर्व. 3.30.5
3. यजु. 26.2

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (53-60) July-December 2018 ISSN 2277-4351

संहिताओं में मन्त्रों अथवा सूक्तों के साथ उल्लिखित ऋषि नाम कल्पित अथवा यथार्थ : एक विवेचन

-डॉ० सरस्वती

असिस्टैंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
ज़ाकिर हुसैन दिल्ली कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय सनातन परम्परा वेदों के अपौरुषेयत्व को स्वीकार करती है। इस मत को यथावत् स्वीकार करते हुए सृष्टि के आदि में चार पवित्रतम आत्माओं के हृदय में ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाशित होने के शतपथ[1] ब्राह्मणोक्त सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए इस प्रपत्र में मन्त्रों और सूक्तों के साथ उल्लिखित उन चार आदि ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के अतिरिक्त ऋषियों के नामों की काल्पनिकता और यथार्थता पर विचार किया जायेगा। उक्त ऋषि नामों की काल्पनिकता अथवा यथार्थता की स्थिति में वेदों की अपौरुषेयता तथा उन ऋषियों के ऋषित्व का विमर्श भी एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय बिन्दु होगा।

मन्त्रों के साथ उल्लिखित ऋषि नामों की काल्पनिकता और यथार्थता के विवेचन से पहले ऋषि शब्द से क्या अभिप्राय है? ऋषि का लक्षण क्या है? ऋषि के ऋषित्व की आधारभूत अर्हताएं क्या हैं? यह एक महत्त्वपूर्ण चिन्तनीय विषय है। अतः सबसे पहले इसी विषय पर विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। व्याकरण के अनुसार ऋषि शब्द 'ऋषि गतौ' दुदादिगण की धातु से 'इन्' प्रत्यय के योग से सिद्ध होता है। गति के ज्ञान, गमन और प्राप्ति ये तीन अर्थ होते हैं। इस प्रकार धात्वर्थ के अनुसार ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति होगी- 'ऋषति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा सः ऋषिः' अर्थात् जो किसी ज्ञान में पारङ्गत, उसका प्राप्तकर्ता या ज्ञाता है। वह ऋषि कहलाता है। किसी विद्या के तत्त्वद्रष्टा व्यक्ति को ऋषि कहा जाता है। निरुक्त की 'ऋषिर्दर्शनात्'[2] निरुक्ति के अनुसार किसी मन्त्र के अर्थ अथवा किसी गूढ़ार्थ का साक्षात्कर्ता व्यक्ति ऋषि कहा जाता है। अन्यत्र स्थल पर भी यास्क ने ऋषियों को साक्षात्कृतधर्मा' कहकर इस व्युत्पत्ति को दोहराया है। वेदों के सन्दर्भ में मन्त्रार्थद्रष्टाओं

1. तेभ्यस्तप्तेभ्यो वेदा अजायन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, आदित्यात्सामवेदः, अंगिरसोऽथर्ववेदः। शतपथ 11/5/2/3
2. निरुक्त 2/11

को ऋषि कहा गया है। निरुक्त ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और अनुक्रमणिका ग्रन्थों में प्रायः ऋषि का उक्त लक्षण ही दिया है। स्वामी दयानन्द ने मन्त्रार्थ द्रष्टा के साथ-साथ ऋषि से ईश्वर अर्थ का भी ग्रहण किया है।[1] सायण 'अतीन्द्रियार्थद्रष्टा' को ऋषि मानते हैं।[2] यजुर्वेद के भाष्यकार उव्वट मन्त्र व्याख्याता को ऋषि कहते हैं।[3] मेधातिथि ने वेद को ही ऋषिरूप माना है और उसके अर्थद्रष्टा को भी। सर्वानुक्रमणीकार मुनि कात्यायन वेदार्थद्रष्टा आप्तपुरुषों को ऋषि मानते हैं। आचार्य माधव मन्त्र दर्शन के विना ऋषित्व को स्वीकार नहीं करते। वेदों और वैदिक साहित्य में प्रसङ्गभेद से ऋषि शब्द के अन्य अनेक अर्थ भी उपलब्ध होते हैं। निरुक्त में तर्क को ऋषि कहा है।[4] इन्द्रियाँ, प्राण, नक्षत्र आदि अर्थ भी ऋषि शब्द से ग्रहण किए जाते हैं।[5] प्रस्तुत प्रसंग में ऋषि शब्द से अभिप्राय उन मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषियों से है, जिनका मन्त्रों या सूक्तों के साथ उल्लेख मिलता है।

वैदिक ऋषियों के विषय में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सृष्टि के आदि में ईश्वरीय प्रेरणा से अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषियों के हृदय में प्रकाशित वेद ज्ञान का, मन्त्रों या सूक्तों के साथ उल्लिखित विश्वामित्र वसिष्ठ आदि ऋषियों के साथ क्या संबन्ध है? इस विषय में हमारे सामने प्रमुख रूप से दो मान्यताएं उपस्थित होती हैं। प्रथम प्राचीन भारतीय परम्परा जो वेदों को ईश्वरीय ज्ञान अर्थात् अपौरुषेय मानती है तथा दूसरी-पाश्चात्य विद्वान् एवं कुछ अन्य आधुनिक भारतीय विद्वान् जो वेदों को पौरुषेय मानते हैं प्रथम मत जो वेदों को अपौरुषेय मानता है, उनके अनुसार वेदों का ज्ञान आदि चार ऋषियों के हृदय में प्रकाशित हुआ। यह स्थिति सर्जन काल में ईश्वरीय ज्ञान अर्थात् वेदों के प्रादुर्भाव से संबद्ध है। अब प्रश्न यह उठता है कि वेद तो नित्य हैं। प्रलय-काल में वेद अथवा वैदिक ज्ञान कहाँ रहता है?

यदि सृष्टि के प्रलय के साथ ही वैदिक ज्ञान भी नष्ट होने लगेगा तो वेदों की नित्यता संभव नहीं हो सकेगी? इस प्रश्न का उत्तर अनेक मनीषी विद्वानों ने देने का प्रयास किया है। सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयकाल में वेद के अस्तित्व का आधार ईश्वर ही है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में **'ऋषिरीश्वरः सर्वदृक्'**[6] ऐसा लिखकर ईश्वर को

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचार, ऋषिः = ईश्वरः
2. ऋक् भाष्य 8/87/3
3. यजु॰ भाष्य 7/46
4. निरुक्त 13/12 तर्कमृषिं प्रायच्छन्
5. ऋषि = इन्द्रिय निरुक्त - 12/36, ऋषि, प्राण ऐतरेय 2/27, ऋषिः नक्षत्र निरुक्त 3/26
6. ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका - ऋषि दयानन्द

त्रिकालदर्शी मानते हुए ऋषि शब्द से संबोधित किया है। स्वयं वेद भी परमेश्वर को ऋषि शब्द से संबोधित करता है- **'एकः ऋषिरेकं धामैकधाशिषः**[1]'। उपरिलिखित प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि सृष्टि के आदि में वेदार्थ ज्ञान के प्रकाशक अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा तथा मन्त्रों और सूक्तों के साथ उल्लिखित कण्व, वसिष्ठ, विश्वामित्र भरद्वाज आदि तो मन्त्रार्थद्रष्टा होने से ऋषि की कोटि में निस्संदेह आते ही हैं। इन सभी ऋषियों को वेद ज्ञान से प्रकाशित करने का मूल आधार ईश्वर ऋषियों का भी ऋषि है निरुक्तकार आचार्य यास्क के अनुसार ऋषि लोग वे थे, जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार किया तथा उन धर्मसाक्षात्कृत ऋषियों ने, धर्म का साक्षात्कार न करने वाले तथा अपने से बाद में आने वाले ऋषियों को धर्मोपदेश द्वारा मन्त्रों को प्रदान किया अथवा ज्ञान कराया।

साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः।
तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः।।[2]

यास्क के इस कथन से स्पष्ट है कि साक्षात्कृतधर्मा आदि चार ऋषि ही थे तथा बाद में आने वाले अन्य ऋषियों ने साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों से श्रुति परम्परा से वेद ज्ञान प्राप्त किया तथा इसी कारण से वेदों का श्रुति नाम भी सार्थक है। इसी तथ्य को पुष्ट करता हुआ ऋग्वेद का मन्त्र दिखाई पड़ता है-

'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवां एह वक्षति[3]**।।'**

इसी प्रकार का एक अन्य मन्त्र ऋग्वेद में मिलता है, जिसमें ऋषि वैवस्वत यम अपने पूर्ववर्ती ऋषियों को प्रणाम करता हुआ कहता है-"इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पथिकृद्भ्यः[4]"। योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि भी ईश्वर को प्राचीनों का भी गुरु मानते हैं 'स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्'[5]। इन सभी प्रमाणों के आधार पर यह तो निश्चित है कि कुछ प्राचीन ऋषि थे तथा उनसे अर्वाचीनों ने ज्ञान प्राप्त किया है, इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि प्राचीन और अर्वाचीन श्रुति परम्परा से ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक ही समय पर विद्यमान थे। यहाँ इस स्थिति में एक विचारणीय प्रश्न यह है कि ऋषि की 'मन्त्रार्थद्रष्टारः' परिभाषा है तो अर्वाचीन ऋषि इस परिभाषा पर खरे उतरते दिखाई नहीं देते क्योंकि उन्होंने मन्त्रार्थ का स्वयं दर्शन न करके प्राचीनों से प्राप्त किया है और एक अन्य प्रश्न यह भी

1. अथर्ववेद 8/9/26
2. निरुक्त 1/20
3. ऋग्वेद 1/1/2
4. ऋग्वेद 10/14/15
5. योगदर्शन 1/2/26

उपस्थित होता है कि ऋषि तो वे मन्त्रार्थ ज्ञान के पश्चात् ही बने हैं। तो क्या उससे पूर्व वे ऋषि नहीं थे? यदि ऋषि नहीं थे तो क्या ऋषि संज्ञा या पदवी प्राप्त करने के बाद उनका नाम परिवर्तन हुआ इत्यादि। इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमारे पास दो आधार हो सकते हैं-प्रथम-मैथुनी सृष्टि में मानव विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया और द्वितीय शास्त्रीय प्रमाण। मानव विकास की प्रक्रिया के विषय में हम जानते हैं कि जब शिशु जन्म लेता है तो वह यत्किञ्चित् स्वाभाविक ज्ञान और संभवतः पूर्वजन्म के कुछ संस्कारों को लिए हुए होता है। उसकी वाणी का विकास, भाषा-ज्ञान और उसके माध्यम से समग्र ज्ञान-विज्ञान अर्जित करने के लिए उसे प्रयास करना पड़ता है। यदि इस तथ्य को वेद मन्त्रों के साथ उल्लिखित ऋषियों के साथ संबद्ध करके देखा जाए तो यह स्थिति एकदम स्पष्ट हो जाएगी कि अपने जन्मकाल में और पूर्व ऋषियों से ज्ञानार्जन करने से पूर्वकाल तक वे सामान्य मनुष्य ही थे। ज्ञानार्जन के पश्चात् ही उन्होंने उस ज्ञान के अर्जन के साथ-साथ उसका साक्षात्कार भी किया। इस प्रकार पूर्व ऋषियों से अर्जित ज्ञान के वास्तविक स्वरूप का पुनः साक्षात्कार करने के कारण उसके ऋषित्व की संभावना को नकारा नहीं जा सकता। इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण के रूप में महाभाष्यकार पतञ्जलि के वचन को उद्धृत किया जा सकता है। वे कहते हैं- 'विश्वामित्रस्तपस्तेपे नानृषिः स्यामिति तत्रभवान् ऋषिः सम्पन्नः[1]' अर्थात् विश्वामित्र ने यह विचार करके तपस्या की, कि वह अनृषि न रहे, ऋषि बन जाए और उस तपस्या के परिणामस्वरूप वे ऋषि बन गए। इससे यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि मैथुनी सृष्टि में ऋषि तत्त्व स्वाभाविक न होकर एक अर्जित उपाधि अथवा पदवी मानी जा सकती है।

वेद को पौरुषेय मानने वाले पश्चात्य अनुसंधाता एवं उनके अनुयायी भारतीय अनुसंधाता मन्त्रों के साथ उल्लिखित विश्वामित्र, कण्व, प्रियमेध आदि को संज्ञावाचक पद मानकर उनको मन्त्रों का रचयिता मानते हैं। वैदिक मान्यता इसके सर्वथा विपरीत है। वैदिक मन्त्रों में उल्लिखित विश्वामित्र आदि पद गुणवाचक अथवा गुणों द्वारा अर्जित उपाधि के सूचक हैं तथा परवर्ती ब्राह्मण आदि साहित्य में वर्णित विश्वामित्र आदि पद गुण एवं संज्ञा दोनों के वाचक हैं। इसका कारण यह है कि संहिताओं में ये शब्द गुणों पर आधारित अर्थात् गौणिक नाम हैं जिनका अर्थ व्युत्पत्ति के आधार पर समझा जा सकता है इसलिए ये वैदिक शब्द रूढार्थ के वाचक नहीं हैं। उन्हीं वैदिक शब्दों के अनुकरण पर परवर्ती ऋषियों के नाम भी गौणिक होने के साथ-साथ व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के रूप में भी प्रसिद्धि को प्राप्त हो गए।[2] इसी

1. महाभाष्य 4/1/104
2. नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्।
   वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः।। महाभारत शान्तिपर्व 232

आशय का और अधिक स्पष्टीकरण हमें ऐतरेय आरण्यक में प्राप्त होता है। "प्राणो वै गृत्स:स अपानो मद: स यत्प्राणो गृत्सोखपानो मद: तस्माद् गृत्समद इत्याचक्षते एतमेव सन्तं तस्येदं विश्वं मित्रमासीद् यद् इयं किञ्च। तद् यस्येदं विश्वं मित्रमासीद् यदिदं किञ्च तस्माद् विश्वामित्र इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं तं देवा अब्रुवन् अयं न: सर्वेषां वाम इति। तं यद् देवा अब्रुवन् अयं वै न: सर्वेषां वाम इति तस्माद् वामदेव: तस्माद् वामदेव इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं स इदं सर्वं पाप्मनोखत्रायत यदिदं किञ्च। स यदिदं सर्वं पाप्मनोखत्रायत यदिदं किञ्च तस्माद् अत्रय इत्याचक्षते। एतमेव सन्तं स उ एव बिभ्रद् वाज: प्रजा वाज: एष बिभर्ति यद् बिभर्ति तस्माद् भरद्वाज इत्याचक्षते। एतं सन्तं देवा अब्रुवन् अयं वै न: सर्वेषां वसिष्ठ: तस्माद् वसिष्ठ:। स इदं सर्वमभिप्रागात् तस्मात् प्रागाथ:'।

ऐतरेय आरण्यक के इस उपर्युक्त कथन में गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, और प्रगाथ जो कि ऋषियों के नाम के वाचक शब्द हैं, परन्तु ऐतरेय आरण्यक में उन्हें गौणिक नाम मानकर उनका व्याख्यान व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के आधार पर किया गया है।

ऋग्वेद में अङ्गिरस और इन्द्र पदों के सथ तमप् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।[1] यदि ये शब्द संज्ञावाचक होते तो इनके साथ तमप् प्रत्यय का प्रयोग कदापि नहीं किया जा सकता था क्योंकि तमप् प्रत्यय का प्रयोग तो गुणवाचक शब्दों के साथ गुणातिशयिता को प्रकट करने के लिए किया जाता है। वेदमन्त्रों और सूक्तों के साथ उल्लिखित अनेक ऋषि उन मन्त्रों के रहस्य के ज्ञाता रहे हैं यदि उनको मन्त्रों का रचयिता माना जाए तो अनेक ऐसे प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका समाधान संभव नहीं है। यथा- 'ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्'[2] यह मन्त्र यजुर्वेद तथा सामवेद में आया है। यजुर्वेद में इस मन्त्र का ऋषि वत्सार है तथा सामवेद में बृहस्पति है। क्या एक ही मन्त्र भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न ऋषियों ने बनाया? इसी प्रकार ऋग्वेद के नौवें मण्डल के छियासठवें सूक्त में तीस मन्त्र हैं। इस सूक्त के सौ ऋषि बताए गए हैं यहाँ पर शंका उत्पन्न होती है कि क्या एक एक मन्त्र को अनेक ऋषियों ने बनाया या लिखा। एक मन्त्र के अनेक रचयिता नहीं हो सकते। अत: कर्तृत्व पक्ष में मन्त्रों के साथ उल्लिखित ऋषियों और मन्त्र की संगति नहीं बनती। वेदमन्त्रों में पठित ऋषियों को यदि व्यक्तिवाचक शरीरधारी मनुष्य माना जाए तो बहुत से स्थलों पर संगति नहीं बन पाएगी जैसे- विष्णु ने तीन कदमों में तीन लोकों को नाप दिया,

---

1. अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत्सुविताय श्रवांसि।
   वि दिवो देवी दुहिता दधात्यंगिरस्तमा सुकृते वसूनि।। ऋग्वेद 7/79/3
2. यजुर्वेद 13/3, सामवेद 4/1/3

जो कि किसी शरीरधारी के लिए संभव नहीं है। अनेक ऐसे सूक्त भी हैं, जिनके ऋषि या तो तिर्यक् योनि के प्राणी हैं या पशु-पक्षी हैं अथवा श्रद्धा, मन्यु आदि मानसिक भाव हैं। जो कदापि मन्त्रों के रचयिता नहीं हो सकते। यह आपत्ति वेदों को पौरुषेय मानने वालों के पक्ष में तो आती ही है, लेकिन मन्त्रार्थद्रष्टाओं को ऋषि मानने वाले अपौरुषेय पक्ष में भी आती है क्योंकि पशु, पक्षी, तिर्यक योनियाँ एवं श्रद्धा मन्यु आदि मनोभाव मन्त्रार्थद्रष्टा कभी नहीं हो सकते। मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि हैं इस पक्ष को मानने वाले आचार्यों ने इस आपत्ति का समाधान दो प्रकार से किया है। उनके अनुसार सूक्तों एवं मन्त्रों से संबन्धित ऋषि कविनिबद्ध प्रवक्ता हैं। अर्थात् परम-पिता परमेश्वर एक कवि है। जैसा कि यजुर्वेद में लिखा है- **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'**[1] अन्यत्र अथर्ववेद में भी ईश्वरीय रचना वेद को 'काव्य' संज्ञा से संबोधित करते हुए लिखा है - **'अन्तिसन्तं न जहात्यन्तिसन्तं न पश्यति। देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**।[2] इस प्रकार वेद के कवि ने जिस पात्र के मुख से जो कहलवाना उचित समझा उसे वहाँ प्रवक्ता के रूप में नियोजित कर दिया। इसके अतिरिक्त इन शब्दों के धात्वानुसारी यौगिक एवं आध्यात्मिक अर्थों द्वारा भी इनकी संगति बैठायी जा सकती है, परन्तु वेदों को पौरुषेय मानने वाले कर्तृत्ववादियों के पक्ष में इसकी संगति कदापि संभव नहीं है। वेदों के कर्तृत्व को स्वीकार करने वाले ऋषि के संबन्ध में कात्यायन मुनि के **'यस्य वाक्यं सः ऋषि'** अर्थात् जिसका वह वाक्य = कथन = मन्त्र है, वह ऋषि कहाता है। इस कथन को आधार बनाकर, शास्त्रों के कुछ कथनों को प्रमाण रूप में उद्धृत करके मन्त्रकर्तृत्व की मान्यता को पुष्ट करते हैं। यथा-**"शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। स पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत्"**[3]। बालक आङ्गिरस मन्त्र कर्त्ताओं में बड़ा मन्त्र कर्त्ता था। उसने अपने बड़ों चाचा ताऊ आदि को हे पुत्रो! इस संबोधन से पुकारा। आरण्यक आदि ग्रन्थों में अनेक जगह मन्त्रों में मन्त्रकृत शब्द का प्रयोग किया गया है, जो इस प्रकार है-

'नमः ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः'[4]

'तान् ह उवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्पः ऋषि मन्त्रकृत्'[5]

'कुत्स ऋषिर्भवति कर्ता स्तोमानाम्'[6]

---

1. यजुर्वेद 40/8
2. अथर्ववेद 10/8/32
3. ता॰ ब्रा॰ 13/3/24
4. ऋषि जालबद्धाः मत्स्याः, ऋग्वेद 8/67
5. देवशुनी सरमा (ऋषिका) ऋग्वेद 10/108
6. ऋषि अर्बुदः काद्रवेयः सर्पः ऋग्वेद 10/94

'सम्पूर्णमृषिवाक्यं तु सूक्तमित्यभिधीयते[1]'

'संवादेष्वाह वाक्यं यः स तु तस्मिन् भवेद् ऋषिः[2]'

उपरलिखित अनेक उद्धरणों में 'मन्त्रकृत्' शब्द के प्रयोग से यह भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी कि ऋषियों ने मन्त्रों का निर्माण किया। इस भ्रान्ति का निवारण दो प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम तो मन्त्र और कृत् दोनों ही पद अनेकार्थक हैं। 'मन्त्र' का अर्थ विचार तो सर्वविदित ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों में मन्त्र शब्द वाक् अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है 'वाग्वै मन्त्रः[3]' 'वाग्धि मन्त्रः[4]'। इस प्रसंग में वाक् का उच्चारण करने वाला मन्त्रकृत् कहलायेगा। कृञ् धातु भी अनेकार्थक[5] है। कृञ् धातु के विभिन्न अर्थ अभूत्प्रादुर्भाव, निर्मलीकरण, निक्षेपण एवं स्थापन हैं। कृञ् धातु की अनेकार्थकता को देखते हुए सायणाचार्य ने कृत् का अर्थ दर्शन किया है। ऐतरेय ब्राह्मण की व्याख्या में सायण ने लिखा है-**'ऋषिरतीन्द्रियार्थ द्रष्टा मन्त्रकृत् करोतिस्तत्र दर्शनार्थः'**[6]। मन्त्रों में 'मन्त्रकृत्' शब्द को देखकर ऋषियों द्वारा मन्त्रनिर्माण किया गया, इस भ्रान्त धारणा का दूसरा समाधान यह हो सकता है कि मूल संहिताओं के मन्त्र तो निश्चित रूप से ऋषिकृत नहीं है परन्तु बाद में आरण्यकादि ग्रन्थों में पाए जाने वाले मन्त्र ऋषिकृत हैं। अतः उनको ध्यान में रखकर ही मन्त्रकृत शब्द का प्रयोग किया गया हो सकता है। संस्कृत भाषा में कृ धातु से निर्मित स्वर्णकार चर्मकार एवं लौहकार आदि कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनमें कृ धातु का अर्थ स्वर्ण, चर्म और लौह को निर्मित न करके उसका प्रयोग कहना है। इसी तरह वेदमन्त्रों में भी कृ धातु का प्रयोग निर्माण न होकर दर्शन आदि अन्य अर्थ हो सकता है। कात्यायन मुनि द्वारा सर्वानुक्रमणी में 'यस्य वाक्य स ऋषि' में उन्होंने यस्य का अर्थ स्पष्ट नहीं किया कि 'यस्य' का संबन्ध कर्तृत्व से है अथवा द्रष्टृत्व से। सर्वानुक्रमणी में अनेक बार 'अपश्यत्' शब्द का प्रयोग मिलता है यथा- 'गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्'। इस प्रयोग के आधार पर 'यस्य' का संबन्ध द्रष्टृत्व से ही अभिप्रेत जान पड़ता है।

इस समग्र विवेचन से वेदमन्त्रों के साथ उल्लिखित ऋषियों के विषय में जो तथ्य सामने उभरकर आते हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये ऋषि मन्त्रार्थ के

1. ऋषि नैर्ऋतः कपोतः, ऋग्वेद 10/165
2. श्रद्धा (ऋषि) ऋग्वेद 10/151, मन्यु (ऋषि) ऋग्वेद 10/83 जय (ऋषि) ऋग्वेद 10/180
3. शतपथ ब्राह्मण 6/4/1/6
4. वही
5. गन्धनावक्षेपणसेवनसहासिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृजः, अष्टाध्यायी 7/3/77
6. ऋग्भाष्य 8/87/3, 1/33/4, ऐतरेय ब्रा॰ भाष्य 6/1

द्रष्टा थे। कहीं-कहीं जहाँ श्रद्धा, मन्यु, मत्स्य और सर्प आदि का उल्लेख ऋषियों के रूप में मिलता है, वे वस्तुतः गौणिक नाम हैं। जो तत्तत् गुणों का आश्रय होने के कारण उन ऋषियों के नाम के रूप में स्वीकार कर लिए गए अथवा ये गुण और तिर्यक् योनि वाचक नामों का उल्लेख और प्रतिपादन वेदमन्त्रों में होने के कारण तत्तत् नाम वाले ऋषियों की कल्पना कर ली गई। इस प्रकार के ऋषियों को परम्परा में **'दृष्टलिङ्गाः ऋषयः'** कहकर संबोधित किया गया है। एक तथ्य यह भी उभरकर सामने आता है कि मन्त्रों के साथ उल्लिखित ये जन्मजात ऋषि नहीं थे अपितु अपने पूर्व ऋषियों से ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् अपनी तपस्या के बल से उस ज्ञान का साक्षात्कार करने के कारण के ऋषित्व पद को प्राप्त कर सके। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अमैथुनी सृष्टि के आदि चार ऋषि अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा तो जन्मजात पवित्रतम आत्मा होने के कारण ऋषि थे और अन्य सभी ऋषियों ने अपने तपोबल से ऋषित्व को प्राप्त किया।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (61-71) July-December 2018 ISSN 2277-4351

श्रीअरविन्द की दृष्टि में सामयिक शिक्षा-समस्या और समाधान

-डॉ.सुषमा अलंकार

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

डी.ए.वी. कॉलेज, सैक्टर-10, चण्डीगढ़

शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की दिव्यपूर्णता है। प्राचीनकाल में जो शिक्षा थी, उसे औपनिषदिक शिक्षा कहा जा सकता है। औपनिषदिक शिक्षा का परम लक्ष्य परमशान्ति अथवा 'अमृत' की प्राप्ति था- विद्ययाऽमृतमश्नुते।[1] समय के साथ-साथ शिक्षा का स्वरूप भी बदलता रहता है, किन्तु इस परिवर्तन के नाम पर मूल्यहीन शिक्षा का समावेश करना न व्यक्ति के लिए ठीक है और न ही समाज के लिए। भारत में इस वक्त लॉर्ड मैकाले द्वारा कल्पित शिक्षापद्धति प्रचलित है। किसी भी पद्धति को सर्वथा गुणग्राही नहीं माना जा सकता। प्रत्येक पद्धति में शोधन की गुंजाईश है। लार्ड मैकाले की शिक्षा-पद्धति ने जहाँ रोजगारोन्मुख बनाया है, वहीं इसने बाह्य रूप को भी परिष्कृत किया है, किन्तु अन्तः परिष्कार करने में यह पूरी तरह विकल्प रही है। यदि शिक्षा द्वारा उत्कर्ष न होकर अपकर्ष होता है, तो उस पद्धति का अधूरापन है।

आधुनिक भारतीय शिक्षा ज्ञानप्रधान न होकर उपाधि प्रधान हो गई है। बल्कि इसे बाजार प्रधान कहना अधिक ठीक है। इस पद्धति में ज्ञान सम्प्रेषण की अपेक्षा रटन्त सिद्धान्त प्रबल है। विषय का परिज्ञान हो या न हो, पर रटन्त सिद्धान्त से परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना ही प्रमुख हो गया है।

वस्तुतः इस पद्धति में कुद दोष हैं। इस शिक्षा से मनुष्य की संवेदनाएँ प्रादुभूर्मत नहीं होती तथा नयी चेतना की उद्भावना भी कम ही दिखाई देती है। इस दृष्टि से श्री अरविन्द की शिक्षा-चेतना बड़ी प्रासंगिक है। उनकी शिक्षा नीति का दायरा व्यापक है। वे जहाँ प्राच्य शिक्षा के योग और अभ्यास की प्रतिष्ठापना करते हैं, वहीं आधुनिक परिवेश भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हुआ है। उन्हें न तो प्राच्च पद्धति से अन्धा मोह है और न ही यूरोपीय पद्धति से वितृष्णा। वे तत्त्वभूत बात को कहीं से भी लेने को तैया हैं। वस्तुतः यह खुली सोच होना ही शिक्षा है।

इसीलिए वे राम और कृष्ण के आदर्श की भी बात करते हैं, प्राच्य पद्धति की प्रशंसा भी करते हैं कि प्राचीन पद्धति यह थी कि एक या दो विषय खूब अच्छी तरह पढ़ाए जाते थे और उसके बाद दूसरे विषय लिए जाते थे। निश्चय ही यह आधुनिक पद्धति की अपेक्षा अधिक युक्तियुक्त तरीका था।[1]

श्री अरविन्द उपयोगी यूरोपीय शिक्षा के भी पक्षधर हैं- "ज्यादा अच्छा यह होगा कि यूरोप जो भी न्याससंगत विचार और नया ज्ञान दे सकता है, उसे लेकर हम अपने ज्ञान, अपनी संस्कृति, अपने स्वभाव और भाव, अपने मानस और अपनी सामाजिक प्रतिभा में आत्मसात् कर लें, और उसमें से भविष्य की सभ्यता का निर्माण करे।"[2] किन्तु यदि आंख मूंद कर हमने पश्चिम को स्वीकार किया तो उससे विध्वंस होगा- "अब पश्चिम की वैज्ञानिक तर्कसंगत, औद्योगिक, गणतन्त्र का अभास देने वाली सभ्यता विलीन होने की प्रक्रिया में है। अगर हम इस डूबती हुई नींव पर अंधाधुंध अपनी दीवार खड़ी करने लगे, तो यह विक्षिप्त असंगति होगी।[3]"

इस प्रकार श्री अरविन्द सजग दृष्टि से भविष्यत्कालीन स्वप्न देखते हैं। उनके इस स्वप्न में न कहीं निराशा का अवसाद है और न ही अथार्थ आशाओं का उन्माद। श्री अरविन्द की दृष्टि से हम आधुनिक शिक्षार्थी को मूल्य वाली दृष्टि दे सकते हैं। समाज में फैली अफरातफरी सबसे अधिक तथाकथित शिक्षित वर्ग में ही है। इसलिए इस प्रश्न का समाधान अरविन्द साहित्य में खोजा जा सकता है।

एकांगी शिक्षा का अधकचरापनः-

पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर केवल पारम्परिक शिक्षा को ही स्वीकार करना तथा नई संभावनाओं पर विराम लगा देना शिक्षा का एकांगी पक्ष है। यह ठीक है कि कोई भी व्यक्ति कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता, किन्तु नित नए-नए स्वप्न लेकर उन्हें साकार करने का प्रयास तो होना ही चाहिए। इसीलिए श्री अरविन्द प्राच्य और प्रतीच्य को एकीकृत करके, समन्वय करके देखते हैं। यद्यपि बहुत सारे विषय के अपूर्ण ज्ञान के पक्ष में श्री अरविन्द नहीं हैं, फिर भी आधे-अधूरे ज्ञान का कोई लाभ नहीं। भर्तृहरि का यह कथन बड़ा सटीक प्रतीत होता है कि अनपढ़ या अज्ञानी व्यक्ति को आसानी से समझाया जा सकता है। गम्भीर ज्ञान वाले को और भी अधिक आसानी से प्रसन्न किया जा सकता है, किन्तु आर्ध-अधुरे ज्ञान वाले व्यक्ति को तो ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता–

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रंजयति॥[1]

एकांगी और अपूर्ण ज्ञान भयावह होता है। इसलिए प्रत्येक ज्ञान के साथ

बालक का मन, रूचि देखकर तदनुकूल पाठन कराना चाहिए तथा इस ज्ञान की पूर्णता में अभ्यास, ब्रह्मचर्य और नैतिकता महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इसलिए श्री अरविन्द एकांगी शिक्षा को राष्ट्रहितकारी नहीं मानते। राष्ट्रीय शिक्षा नीति में उन्होंने विशाल हृदय से विचार करके व्यापक दृष्टि प्रदान की है। यही व्यापकता समाज के लिए हितकारी है। अहम् से उठकर अपना दायरा बढ़ाना होगा तभी "वसुधैव कुटुम्बकम्" की बात हो सकती है।

सर्वांगीण शिक्षा एवं उसका मार्ग-चतुर्विध तपस्याः–

जीवन को ठीक से समझकर सामर्थ्य व प्रतिभा को विकसित करने का उपाय 'शिक्षा' है। श्री अरविनद ने पांडिचेरी में आश्रम में एक सर्वांगीण शिक्षा का प्रयास किया। प्रत्येक को सभी क्षेत्रों में पूरी स्वतन्त्रता देकर बच्चों के लिए एक Free Freedom System का मार्ग तैयार किया। आश्रम की धारणा है कि Freedom is essential for growth यही एक नया दृष्टिकोण है, एक नयी चेतना की तैयारी है। सभी शिक्षाशैलियों को-मान्टेसरी, किंडरगार्टन या सभी प्रकार की वैज्ञानिक, तकनीकि, औद्योगिक, बौद्धिक व धार्मिक प्रयत्नों को या फिर अपनी गुरुकुल पद्धति, वैदिक परम्परा और ऋषियों की तपस्या सिद्धि के योगमार्ग को इन सभी को एक साथ लेकर चलती है। श्री अरविन्द का मानना है कि-

A capital factor in the degradation of India had been the idea that life is an illusion the idea should be replaced by the positive idea that life is an evoling reality, and that it is at present a field of battle through which the eternal perfection slapes us in its own image. The ultimate aim of life is to be completely transformed so as to become a fully developed and effective means of the manifastation of perfection and thus to be a field of progressive harmony and unity. Children should aspire to become the hero warriors to fight succissfully the great battle of transformation against all falsehood, they should be the seelers and realisers of total perfection in physical life.

पूर्ण शिक्षा केवल मानसिक शिक्षा पर आधारित नहीं रह सकती। इसे व्यक्ति के हर पहलू को विकसित करना हे। इसमें अध्यापक एक सलाहकार बनकर बालक को राह दिखाए। पूर्ण शिक्षा में प्रवेश के लिए मुख्यतः निम्न गुणों को तो स्वीकार कर ही लेना चाहिए–

1. **एक सनातन केन्द्रीय शिक्षा**- अर्थात् परम सत्य की खोज।

2. **एकाग्रता**- बचपन में ही ऐसा स्वभाव बन जाए कि व्यक्ति जो काम करे, उसमें पूरी तरह खो जाए।

3. **विस्तार, विशालता और ऊर्ध्वमुखता**- यह कोर्स की पुस्तक पढ़ने या परीक्षा उत्तीर्ण करने से नहीं प्राप्त होती, बालक विषय को मस्तिष्क में बुद्धि पूर्वक समझकर अमिट बना देने से आती है तथा नाना पहलुओं से उस विषय का अध्ययन व मनन से आती है।

4. **अनुशासन, नियंत्रण व संयम**- यह भय और जबरदस्ती से नहीं, बल्कि स्वभाव बनाकर परिवर्तन होना चाहिए।

5. **मन की निश्चल नीरवताः**- बच्चों के मनपसन्द विषय, भेदभावरहित प्रेम के वातावरण में नीरवता आती है। जाति, सम्प्रदाय, वर्ग, भाषा, अमीर गरीब का भेद नहीं रहना चाहिए।

6. **कम बोलने की आदत का विकास**- इससे वाणी में एक शक्ति जागृत होती है।

इसके अतिरिक्त विविध विषय उनका पाठन, कला, कहानी आदि भी इसमें अन्तर्भूत हैं। इस सर्वांगीण शिक्षा का मार्ग यह चतुर्विध तपस्या है-

1. सौन्दर्य की तपस्याः-

यह शारीरिक पूर्णता की तपस्या है। शरीर पहला साधन है- शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्। यह शरीर ही मन, प्राण व आत्मा का आधार है। शरीर इतना स्वस्थ, लचीला और मानसिक व प्राणिक सभी आवेशों को सन्तुलित करने की क्षमता वाला होना चाहिए कि अन्य सभी शक्तियाँ उसके द्वारा अपने को व्यक्त कर सकें। ज्ञानेन्द्रियों में अद्‌भुत शक्ति है। यदि कोई सुन्दर व्यक्ति क्रोध करें तो उसका शरीर सुन्दर कैसे माना जा सकता है। अतः चैतन्य सौन्दर्य एक भारी तपस्या है। इसलिए आत्मनिरीक्षण, अनुशासन व दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है।

2. शक्ति की तपस्याः-

यह प्राणिक पूर्णता की तपस्या है। प्राण शक्ति जगत् की स्रष्ट शक्ति है। यह हमारी उन्नति व पतन दोनों का कारण बन सकती है। यह निरन्तर गतिशील है। मनुष्य की इच्छाएँ, कामनाएँ, वासनाएँ और भावनाएँ ऊपर उठते उठते जीवन में स्वर्ग की रचना भी कर सकती हैं और निम्न वृत्तियों में फंस कर नीचे से नीचे नरकों की रचना भी कर सकती है। यदि दया, करुणा, क्षमा, स्नेह और प्रेम में यह हमें ऊपर उठा सकती हैं, तो क्रोध, विद्रोह, तमस्, आलस्य, घृणा व जुगप्सा से हमें नीचे भी गिरा सकती हैं। यह आवेग और आवेश की शक्ति है, इसे अनुशासिक करना बड़ा कठिन है। अतः स्वार्थ व तमसभरी इन्द्रियों की लालसाओं को संयम और सन्तुलन

के द्वारा हमें प्रत्येक पल ऊपर उठाना है। यह सब जबरदस्ती नहीं बल्कि मन, बुद्धि और विवेक से एक-एक क्षण सतर्क रहकर उसे पूर्ण कर सकते हैं। इसी का नाम है चैतन्य होना। चैतन्य शिक्षक ने यदि बच्चे में चेतना लगा दी, तो फिर उसे पढाना क्या, अध्यापक को तो मित्रवत् केवल सहायता ही करनी है। यही शिक्षक की सच्ची जिम्मेदारी है।

3. ज्ञान की तपस्याः-

मन:शक्ति की पूर्णता की तपस्या ही ज्ञान की तपस्या है। बच्चे में ज्ञान को ठूंसना उसका सहज प्रतिभा का ह्रास है। उबाऊ शिक्षा के कारण ही तो ऊपरी कीर्ति के लिए भारत में बच्चे गांव से निकलकर शहर को दौड़ते हैं, शहर से बड़े शहर और बड़े शहर से विदेश तक की छटपटाहट पाले रहते हैं। इस प्रवृत्ति ने भारतीय ज्ञान की सच्ची परिभाषा को मिट्टी में मिलाकर भारतीय प्रतिभा को धूल-धूसरित कर दिया है। आज की शिक्षा के अनुसार मन तो भौतिक जगत् का राजा ही बन गया है, पर उस राजा की अपूर्णता सभी क्षेत्रों में दिखाई देती है। भारत अपनी इस भूल से सर्वनाश के गर्त की ओर बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार ज्ञान की तपस्या को पूर्णमनोयोग की क्षमता के विकास द्वारा किया जा सकता है। मन को व्यापक बनाकर विचारों पर संयम तथा अनिष्ट विचारों का परित्याग करना होगा, अन्तः प्रेरणाओं को अधिकधिक पूर्णता के साथ ग्रहण करने का प्रयास आवश्यक है। अधिक बक-बक से बच्चे उकता जाते हैं। शब्दों के हंगामे ने संसार को बहरा बना दिया है। हमें कम से कम बोलने की आदत डालनी चाहिए। कम बोलने से बात प्रभावपूर्ण हो जाती है। मानस-विकारों का परित्याग कर अध्यापक पहले अपने मन का पवित्रीकरण करें, फिर बच्चे के मन का अध्ययन करके उसे शिक्षा प्रदान करे, फिर सफलता निश्चित है। यह बड़ा कठिन कार्य है, इसलिए यह एक तपस्या है।

4. प्रेम की तपस्याः-

सर्वतोमुखी आत्मा की तपस्या ही प्रेम की तपस्या है। संसार में प्रेम अद्‌भुत तत्त्व है। प्रेम तत्त्व के कारण ही संसार में यह हरियाली है। प्रेम के सात्त्विक राजस और तामस-अनेक रूप हैं। विशुद्ध प्रेम की साधना के लिए इस मानव चेतना से ऊपर उठना होगा। मन, प्राण की चेतना कितनी भी ऊँची हो जाए, पर पता नहीं कब उसे व्यक्तिगत स्वार्थ व अहम् घसीटकर नीये ले आएँ। अतः साधारण मानव प्रेम से ऊपर उठकर जब भागवत प्रेम का मजा चखेगा, तभी अपने को पूर्ण सौन्दर्य में पुष्पित कर सकेगा।

छोटे बच्चे के भोले हृदय के साथ शिक्षक का हृदय यदि एक हो जाए, वह

यह भूल जाएं कि वह शिक्षा देने आया है, तभी यह बच्चे की अन्तरात्मा को पहचान सकता है, उनका उपयोग कर सकता है। एकात्मता के आनन्द में दोनों खो जाएँ, छोटे बड़े की भावना ही न रहे, तभी बच्चे के कुसंस्कारों को भी शिक्षक धीरे-धीरे प्यार के द्वारा बदल सकता है। एक मैत्री भाव उत्पन्न होने पर जाति, वर्ग और वर्ण का भेद नहीं रहता। फिर ये बच्चे बड़े होकर आपस में धर्म व सम्प्रदाय की उठी घृणा व अहं की दीवार ढहाते चले जाएँगे। सारे धर्म आपस में प्रेम से जुड़े होंगे।

इस प्रकार श्री अरविन्द इस चतुर्विध तपस्या से ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें जाति, वण, वर्ग, सम्प्रदाय का विद्वेष न हो। आज पूरा विश्व आतंक और विभेद के दौर से गुजर रहा है, इस दृष्टि से श्री अरविन्द की शिक्षा का प्रसार पेरू विश्व में होना चाहिए। आजकल की शिक्षा यान्त्रिक हो गयी है। यहाँ नाना विषयों में कोल्हू के बैल की तरह विद्यार्थी को एक लीक पर चलने के लिस मजबूर होना पड़ता है। इसमें न मन को टटोला जाता है और न ही प्रेम का कहीं सम्बन्ध है। इसलिए आधुनिक युग में जहाँ बाहरी विज्ञान का चाकचक्य देखकर मनुष्य अन्धी दौड़ में शामिल हो गया है, वहीं वह एक दूसरे से बहुत दूर भी होता जा रहा है। यह आपसी दूरी ही आधुनिक समस्याओं की जड़ है।

शिक्षा में बालमनोविज्ञान पद्धति की आवश्यकताः-

शिक्षा एक गतिमान् प्रक्रिया है ं इसे निष्प्राण या स्पन्दशून्य नहीं मान सकते। भले ही दार्शनिक दृष्टि से इसमें आत्मा नामक पदार्थ न हो, पर इसका गृहीता और दाता दोनों सचेतन हैं। प्रत्येक ग्रहीता का मन अलग-अलग होता है। इसलिए शिक्षा के सम्प्रेषण में 'मन' सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है। (शिक्षा को जबरदस्ती किसी में ठूंसने से वह निर्जीव हो जाती है। इसलिए कठोर पद्धति शिक्षा में बाधक है। इसके लिए अध्यापक को बालमनोविज्ञान का गंभीरता से अध्यन करना चाहिए। बालक के मनोविज्ञान को समझकर यदि उसे प्रशिक्षित किया जाएगा, तो वह अधिक रूचि, तल्लीनता और सजगता से ग्रहण करेगा। इसके लिए अध्यापक को चाहिए कि वह बालक के साथ एकात्मता बनाए। इसके लिए स्वयं अध्यापक की सजगता और एकाग्रता आवश्यकता है)। बच्चे के अन्दर किस विषय को ग्रहण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, यह खोजना ही अध्यापक का प्रमुख धर्म है। बिना रूचि या स्वाभाविक प्रवृत्ति के जो चीज बालक अध्यापक के भय से यन्त्र की तरह रट लेता है, वह धीरे धीरे धुंधली होती जाती है और अन्त में विलीन हो जाती है। अध्यापक इतनी एकाग्रता और आत्मीयता से पढ़ाए कि बालक के मन में मस्तिष्क में खूब प्रश्न पैदा हों। यदि अध्यापक ने पढ़ाते हुए बालक के मस्तिष्क में असंख्य प्रश्न पैदा कर दिए, तो समझो वह एक आदर्श अध्यापक है।

कुछ बालकों की अभिरूचि काव्य में, कुछ की चित्रकला आदि में, कुछ की विज्ञान, तकनीकि आदि में हो सकती है। अब यदि विज्ञान की अभिरूचि वाले को विज्ञान से हटाकर काव्य या कलाओं में प्रशिक्षित किया जाएगा, तो बालक में वितृष्णा उत्पन्न हो जाएगी, जिससे समय और शक्ति दोनों का ही अव्यय होगा। इसलिए माता-पिता तथा अध्यापक का यह परम कर्त्तव्य है कि वे बच्चे की मनोऽभिरूचि का विशेष अध्ययन करें तथा उसके अनुरूप ही यथाभिरूचि विषय के लिए बालक को प्रोत्साहित किया जाए, अन्य विषय को गौणरूप में पढ़ें। यह भी देखा गया है कि कुछ बच्चे अत्यधिक प्यार से समझते हैं, तो कुछ कठोरता से। कुछ बच्चे इतने शर्मीले होते हैं कि उन्हें यह भय रहता है कि कहीं दूसरों के सामनों उनकी हंसी ना हो नाए। इस प्रकार प्रत्येक बच्चे में कुछ मौलिक गुण हैं।

श्री अरविन्द इसीलिए मानसिक शिक्षा पर बड़ा बल देते हैं। अध्यापक को कभी मां बनकर, कभी पिता बनकर और कभी मित्र बनकर पढ़ाना चाहिए। बच्चे का मन बड़ा कोमल और संवेदनाओं से आप्लावित होता है। यदि उसका मन समे विना शिक्षा को उसमें ठूंसा गया तो उसका मन कठोर और संवेदनाहीन हो जाएगा। संवेदनाहीन मनुष्य अपने समाज या राष्ट्र का कुछ भी हित नहीं कर सकता। वह तो यन्त्र की भांति काम करेगा और रूपया कमाने का साधनमात्र बनकर रह जाएगा। प्रत्येक कार्य में संवेदना की आवश्यकता है। संवेदनाहीन डॉक्टर, संवेदनाहीन लेखक अपने सही उत्तरदायित्व को नहीं निभा सके। इसलिए प्रशिक्षण की उत्तम विधि में बालमनोविज्ञान पद्धति की नितान्त उपयोगिता है।

क्रियात्मक पद्धति का उपयोगः-

श्री अरविन्द ऐसी शिक्षा पसन्द करते थे जिसमें कुछ प्रशिक्षण दिया जाए। और इस तरह की शिक्षा आज के वर्तमान समय की भी आवश्यकता है। सिर्फ डिग्री लेना ही शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य नहीं होना चाहिए न ही यह आज के संदर्भों के अनुकूल है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालक का अच्छे से अच्छा उपयोग कर सके। साधारण शिक्षा एक सामान्य लिपिक, वकील या चिकीत्सक तो बना सकती है लेकिन अच्छा लिपिक, अच्छा वकील या अच्छा चिकित्सक नहीं बना सकती है। सही शिक्षा वही है जो बालक की आन्तरिक शक्तियों को बाहर निकालती है और उसे सामयिक परिस्थितियों तथा भविष्य के लिए तैयार करती है। सिर्फ पुस्तकीय ज्ञान, शिक्षा नहीं होनी चाहिए। बल्कि बालक को कुछ इस तरह पढ़ाया जाए कि जब वह पढ़ कर आगे निकले तो उसके सामने प्रश्नचिह्न न हों कि क्या करे-ज्ञान तो हासिल कर लिया लेकिन मात्र पुस्तकीय। असल में उस शिक्षा का करना क्या है? क्या बनना है? यह बालक को मालूम ही नहीं तो ऐसी शिक्षा बेकार है आज

आवश्यक है शिक्षण और प्रशिक्षण की। स्वयं अरविन्द जी के शब्दों में-

"विद्यार्थी को ज्ञान देना आवश्यक है लेकिन उससे भी अधिक आवश्यक है उसके अन्दर ज्ञान की शक्ति का निर्माण करना। उसे शायद अच्छी दस्तकारी की शिक्षा कहा जाए जब किसी को बढ़ई गिरि सिखाने के पेड़ गिराना तो सिखाया जाए ताकि वह अपने लिए लकड़ी जुटा सके, लेकिन उसे मेज, कुर्सी, अलमारी आदि बनाना न सिखाया जाए या उसके काम के लिए उपयोगी ओजार न बतलाये जाए।"[1]

विद्यार्थी में सिर्फ तथ्यों को ठूंसना उचित नहीं है और न ही हमें इस तक सीमित रहना चाहिए बल्कि हमें प्रयास करना चाहिए कि हम कुछ ऐसा करें जिससे छात्र की स्वाभाविक योग्यताओं को प्रकट कर सकें और इन प्रकट हुई योग्याओं को सही दिशा दे सकें- सही प्रशिक्षण प्रदान कर सकें। श्री अरविन्द के अनुसार यही शिक्षा का सार है-

"अपने आप विकसित प्रतिभा उतने अच्छे स्वतन्त्र और महान् परिणाम नहीं लाती जितने कि वही प्रतिभा पूरी तरह प्रशिक्षित और सुसज्जित होने पर ला सकती है। ज्ञान की राशि अपने-आप में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। अधिक महत्त्वपूर्ण है जो हम जानते हैं उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करना।"[1]

श्री अरविन्द के ये विचार आज के सन्दर्भो के पूर्णतः सही बैठते हैं। जिस बच्चे की प्रतिभा का सही उपयोग हो जाता है, वह उन्नति की ओर अग्रसर होता जाता है। और जिसकी प्रतिभा का समुचित उपयोग नहीं होता वह पिछड जाता है। दो समान प्रतिभा बाले बच्चों में से यदि किसी कारणवंश (जैसे क्षेत्र, आर्थिकता) एक की प्रतिभा का सही उपयोग नहीं हुआ तो वह पिछड जाता है और दूसरा बच्चा बड़ी-बड़ी मल्टी नेशनल कम्पनी में उच्च पद प्राप्त कर लेता है।

शिक्षा में प्रशिक्षण के महत्त्व को आज के शिक्षाविद् भी समझ रहे हैं और यही कारण है कि आज अनेक प्रकार के ऐसे कोर्स तथा डिग्रियां आ गई है जो बच्चों के सामने प्रश्न चिह्न नहीं लगती है अपितु उन्हें रोजगार प्रदान करती आज से कई वर्ष पूर्व प्रकट किए गए श्री अरविन्द के ये विचार आज के समय में भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रहे। वर्तमान समय की आश्यकताओं को उन्होंने वर्षो पहले पहचान लिया था और लोगों को रास्ता दिखाने का प्रयास किया-जिस पर चल आज देश उन्नति के शिखर की ओर अग्रसर हो रहा है।

शिक्षा के इस रूप को प्राप्त करने के लिए यदि शिक्षा के लक्ष्य और पद्धति को बदलना पड़े तो उसके लिए तैयार रहना चाहिए लेकिन यह बदलाव तभी सार्थक होगा, जब प्रतिभाओं का समुचित व सही उपयोग व सही प्रशिक्षण हो। सके लिए

गणित, अर्थशास्त्र विज्ञान जैसे आधुनिक विषय अपनाने होंगे। इन विषयों का पूरा-पूरा व सही ज्ञान देना होगा। लेकिन भाषा का ज्ञान भी अवश्य होना चाहिए क्योंकि भाषा वह धरातल है जिसके बिना सबकुछ लड़खड़ा जाएगा। यही कारण है कि श्री अरविन्द आधुनिक विषयों के साथ भाषा विशेषकर मातृभाषा को भी विशेष महत्त्व देते थे।

दिव्य पूर्णता में नयी शिक्षा की भूमिकाः-

श्री अरविन्द शिक्षा द्वारा मनुष्य में दिव्य पूर्णता चाहते हैं। शिक्षा द्वारा चेतना को परिवर्तन करना होगा। इसलिए श्री अरविन्द "जो पढाना चाहते हैं, वह केवल एक मानसिक आदर्श नहीं है। यह है जीवन का एक नयाभाव और चेतना की उपलब्धि।"[1] शिक्षा को काल की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। वैदिक संस्कारों में तो यह शिक्षा जन्म से पूर्व ही मातृगर्भ में ही आरम्भ हो जाती है। जन्म के पश्चात् तो तुरन्त ही यह शिक्षा शुरू हानी चाहिए और सारे जीवन चलती रहनी चाहिए। श्री अरविन्द नए सन्दर्भ में शिक्षा का मूल्यांकन करते हैं- 'नया लक्ष्य है बच्चों को अपनी बौद्धिक, सौन्दर्य बोधात्मक, भावात्मक, नैतिक, आध्यात्मिक सत्ता और सामुदायिक जीवन और आवेगों को उसके अपने स्वभाव और क्षमताओं में से विकसित करना-यह पुरानी शिक्षण पद्धति से बहुत भिन्न है, जो इतना रूढिबद्ध ज्ञान बालक के प्रतिरोध करने वाले मस्तिष्क में ठूंसना चाहता था, जो उसके संघर्षरत और अधीनस्थ आवेशों पर रूढिबद्ध आचार संहिता को आरोपित करना चाहता था।[2]'

शिक्षा की पूर्णता इसमें है कि शिक्षिक मनुष्य की सोच का दायरा बढ़ जाए। वह अहं से बारह अनन्त आकाश में विचरण करने लगे। ब्रह्मचर्य, योग, मानस शिक्षा आदि साधनों से बालक में नई चेतना का विस्तार हो। इस चेतना में फिर न कहीं विद्वेष सताएगा, न ही वर्ग, जाति, धर्म का भेद रहेगा न गरीब, अमीर और छूआछात का। यही तो है दिव्य जीवन। भागवत प्रेम की प्रधानता होने से व्यष्टि की ही नहीं समष्टि का अभ्युत्थान होता है। संकीर्णता से बाहर आकर उस विराट् का चिन्तन जब होगा, तो यह अनुभव होने लगेगा कि यहाँ कोई हिन्दु, मुसलमान या ईसाई नहीं है। सबके सब सबसे पहले मनुष्य है। मानव का धर्म मानवता है। इस नाते हम सब एक हैं, फिर अलगाव और आंतक की छाया भी दिव्यमानवता के अरुणोदय से स्वयं गायब हो जाएगी। पर और अपर का तादातम्य ही शिक्षा का लक्ष्य है, जिसमें पूर्ण शान्ति हो। इसलिए 'हमारा लक्ष्य है मानव की दिव्य पूर्णता। इसलिए हमें पहले यह जानना चाहिए कि मनुष्य की पूर्णता किन प्रधान तत्त्वों से बनी है। दूसरी बात, हमें यह जानना चाहिए कि हमारी सत्ता की मानसिक पूर्णता से भिन्न दिव्य पूर्णता से हमारा क्या मतलब है। सारी चिन्तनशील मानवजाति यह मानती हैं कि सत्ता के रूप में

मनुष्य आत्मविकास और पूर्णता के एक ऐसे आदर्श स्तर की ओर जाने में समर्थ हैं, जिसकी कल्पना करके, उसका मन उसके सामने रख सकता है और उसका अनुसरण कर सकता है। भले ही गिने चुने लोग इस सम्भावना को जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्ष्य समझते हैं।'

अपने पूर्ण दार्शनिक धरातल पर श्रीअरविन्द जिस दिव्य जीवन की बात कर रहे हैं, वह यहाँ प्रासंगिक नहीं है, किन्तु उनके दिव्य जीवन से शिक्षा द्वारा साध्य समरसता को स्वीकार करके उस दिव्य जीवन की पहली सीढ़ी तो चढ़ा ही जा सकता है। इसीलिए श्री अरविन्द 'मानव-एकता' की चर्चा बड़ी गम्भीरता से करते हैं। आत्मनः प्रति कूलानि परेषां न समाचरेत् की भाषा यदि समझ में आ जाए तो सच्चा भ्रातृभाव पैदा होगा, अभी जो भ्रातृभाव दिखाई दे रहा है, वह वस्तुतः आभासमात्र ही है। तुच्छ स्वार्थपरता, अहंकार, आत्मवंचना, अक्षमता, भीरुता, दम्य ये सब आधुनिक शिक्षा की ही तो देन है। यदि सच्ची शिक्षा द्वारा मनुष्य इनसे मुक्त हो जाए तो फिर पूर्णशान्ति होगी। इसलिए दिव्य पूण्रता का अर्थ आन्तरिक विकास है और जब इस आन्तरिक विकास के कारण मनुष्य यह अनुभव कर पाएगा कि उसके अन्दर भी वैसी ही आत्मा है जो उसके पड़ौसी या उसके दुश्मन में है। एकता का यह ज्ञान सच्चा भ्रातृभाव लेकर आएगा। अगर यह आदर्श नयी शिक्षा के माध्यम से मानव जाति में चरितार्थ हो जाए तो सभी समस्या आसान हो जाएगी। तब 'सत्य' जीवन की बागडोर अपने हाथ में ले लेगा और फिर 'पूर्णता' की ओर यह मनुष्य कदम से कदम मिलाकर बड़ेगा।

मनुष्य की इस दिव्य पूर्णता में शरीर, मन, प्राय एवं बौद्धिक शिक्षा सबसे समर्थ उपकरण है।

शरीर की शिक्षा से बालक कुरुप से सुरुप हो जाता है। बच्चों को शारीरिक स्वास्थ, शक्ति सामर्थ्य और सन्तुलन का आदर करना सिखाना चाहिए। शारीरिक क्रियाओं को संयमित और नियमित करना, शरीर के सभी अंगों और क्रियाओं का सर्वांगपूर्ण, प्रणालीबद्ध और सामंजस्यपूर्ण विकास करना तथा शारीरिक विकृति को सुधारना। उठने बैठते चलने, हिलने, डुलने की अभद्र– चेष्टाएं जीवन के लिए खतरनाक परिणाम उत्पन्न कर सकती है। इसलिए शारीरिक शिक्षा केवल दण्ड बैठक लगाना नहीं है, बल्कि स्वस्थता, स्वच्छता, सही आदतों के प्रति जागरुक करना है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है। शरीर की शिक्षा का अर्थ बीमारी के आक्रमण को दूर फेंक देने की कला है। इस शारीरिक शिक्षा में समय पर सोना, उठना आदि अनेक पहलू हैं।

प्राण की शिक्षा के दो प्रधान रूप हैं-

(1) इन्द्रियां का विकास और उनका उपयोग तथा (2) अपने चरित्र के विषय में सचेतन होना। प्राण बड़ा ताकतवर, स्वेच्छाचारी और जोर-जबर्दस्ती करने वाला अत्याचारी है। अनियन्त्रित प्राण विध्वंसक हो जाता है। इसलिए बच्चे की प्राण की शिक्षा जल्दी से जल्दी आरम्भ हो जानी चाहिए। प्राणशिक्षा से इन्द्रियां और मन सही दिशा में चलने लगत हैं। प्राण वस्तुतः साधना की एक विधि है। इस प्राणसाध ना से शुद्धि होती है और बालक संयम, त्याग और शम, दम की ओर अग्रसर होता है ।स्वयं पर प्रभाव स्थापित करने के लिए 'साधना' परमावश्यक है।

मन की शिक्षा में एकाग्रता, मन की व्यापकता, मानसिक निश्चलता आते हैं इससे आत्म निरीक्षण उदित होता है इसलिए मानसिक उन्नति के बिना दिव्य जीवन की कल्पना नहीं हो सकती। चंचल मन अस्त-व्यस्त और शक्तिहीन हो जाता है। यजुर्वेद में शिवसंकल्पसूक्त में मन की गति और उसको शिवसंकल्पात्मक करने का सन्देश दिया गया है। निश्चल मन अधिक ग्रहण-शील होता है। इस ग्रहण शीलता से क्षमता में अपूर्ण वृद्धि होती है।

आन्तरात्मिक शिक्षा से जीवन दिव्य होता जाता है। शारीरिक, प्राणिक और मानसिक शिक्षाएं व्यक्तिगत का निर्माण करने मनुष्य को अवचेतन जड़ता से उबरने तथा उसे एक आत्मसचेतन सत्ता बनाने के साधन हैं। ये बाह्य शिक्षा में आते हैं। अन्तरात्मा की शिक्षा के द्वारा हम यह जानने का यत्न करते हैं कि जीवन क्यों है, इसका लक्ष्य क्या है, आदि। मानव की दिव्यपूर्णता में इस आन्तरात्मिक शिक्षा की साधना आवश्यक है।

यहाँ प्रस्तुत प्रबन्ध में बालक की शिक्षा का प्रारूप ही अभिप्रेत है। इसलिए आन्तरात्मिक शिक्षा की विशद् चर्चा यहाँ नहीं कि जा रही है। हां सह सत्य है कि शारीरिक, प्राणिक और मानसिक शिक्षा पहले सोपान हैं। ये चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में साक्षात् उपकरण हैं।

सन्दर्भसूची-

1. ईशोपनिषद्, सत्यानन्द, होश्यारपुर, संवत् 2008, (मन्त्र-11वाँ)
2. अग्निशिखा (पत्रिका-3.1), सम्पादिका-अनुबेन, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, 2006, (पृ. 27).
3. वही, पृ. 12
4. वही, पृ. 12
5. नीतिशतक, भर्तृहरि, श्री राम प्रैस, मद्रास, 1937, (तृतीय श्लोक)
6. शिक्षा के आयाम, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, 1986. (पृ. 45).
7. वही, पृ. 47
8. नयी शिक्षा, श्री अरविन्द सोसायटी, पाण्डिचेरी, 1981, (पृ. 6).

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (72-77) July-December 2018 ISSN 2277-4351

पर्यावरण के चिन्ताकर्ता वेद

प्रो० राम सुमेर यादव
अध्यक्ष, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

पर्यावरण शब्द से प्रायः सभी परिचित हैं। इसका मानवजीवन से गहनतम सम्बन्ध है। यदि पर्यावरण शुद्ध न हो तो जीवन हो ही नहीं सकता। विशुद्ध पर्यावरण की जीवन में परम आवश्यकता होती है। पर्यावरण शब्द परि+आङ् इन दो उपसर्गपूर्वक शब्दों से वृ संवरणे धातु से ल्युट् प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। पर्यावरण का अगर नाम वातावरण होता है। संसार में जो जो पदार्थ जड़ चेतन के जीवन को आच्छादित करते हैं तथा प्रभावित करते हैं वे पदार्थ पर्यावरण शब्द से अभिहित होते हैं। भोजन वस्त्र निवासादि के जो साधन विकास के कारण हैं वे भी पर्यावरण ही हैं। पर्यावरण में अग्नि, पृथ्वी, जल, वायु आकाश आदि पञ्च महाभूतों का वन, वृक्ष, लता, औषधियों को जलचर, नभचर, सरीसृप आदि जन्तुओं का गो आदि पशुओं का रासायनिक तत्वादि पदार्थों का संग्रह होता है। जैविक पर्यावरण के अन्तर्गत समस्त जीवजगत, समस्त वृक्ष, लता वल्लरी औषधि वनस्पतियां आदि परिगणित होने में भौथ्तक पर्यावरण में मिट्टी जलवायु प्रकाशादि आते हैं। भौतिक पर्यावरण को तीन भागों में बाटा जा सकता है। प्रथमतया है भूमण्डल-इसमें मिट्टी, बालू, पर्वत, खनिज पदार्थ का ग्रहण होता है। दूसरा है- जलमण्डल-इसमें नदियों, समुद्र, तड़ाग, झरने आदि हैं तीसरा है वायुमण्डल-इसमें सारी वायुएँ, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, हाइड्रोजन, कार्बनडाई आक्साइड, क्रिप्टान आदि हैं।

हमें इसके कारणों पर विचार कर लेना चाहिए। पर्यावरण के समस्त तत्त्व नैसर्गिकरूप से शुद्ध हैं। चेतन, जीव, अपनी क्रियाओं से, कर्म से और पर्यावरणपदार्थों की, ऊर्जा का तथा अवशिष्ट पदार्थों के उत्सर्जन से नैसर्गिक सन्तुलन प्रदूषित होता है। जब वे सब प्रदूषित होते हैं वही प्रदूषण कहलाता है। मुख्य प्रदूषणों में भूमि,जल, वायु, ध्वनि, आध्यात्मिक मनन, चिन्तन, चरित्र, आदि हैं।

भूमि प्रदूषण से भूमि की उर्वरता घटती है, खाद्यान्न पोषण रहित हो जाता है। अतः ऐसे प्रदूषित अन्न से निर्बलता, कुविचार, दुर्व्यसन, आत्महत्या आदि मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। जल प्रदूषण से संग्रहणी, पीलिया, अतिसार, रक्ताल्पता, ज्वरादि

शरीरिक बीमारियाँ प्रवर्धित होती हैं। वायु प्रदूषण जीवन का आधार प्राण संकट में पड़ जाता है। वायु प्रदूषण में जीवन कठिन हो जाता है। प्रदूषण होने पर कार्बनमोनोआक्साइड, आदि दूषित तत्त्वों से पक्षाघात्, सन्निपात, टाइफाइड अल्सर कैंसर, यक्ष्मा, निमोनिा कासादि रोग विकसित होते हैं। ध्वनि शब्द रूप है। ध्वनि प्रदूषण में अनिद्रा, बधिरता, स्नायुदौर्बल्य, अस्थमा आदि श्वास रोग हो जाते हैं। मृत्यु तक हो जाती है। पृथ्वी जलवायु आदि पर्यावरण दूषित होने पर चरित्रादि आध्यात्मिक प्रदूषित पैदा होता है। चरित्र प्रदूषण में बुद्ध, मन, आचार-विचार आदि विकृत होते हैं। परिणामतः सामाजिक सौहार्द्र पारिवारिक संगठन, राष्ट्रिभावना, आध्यात्मिक चेतना आदि मृतप्राय हो जाते हैं। जीवन नारकीय हो जाता है। वर्तमान में पर्यावरण प्रदूषण के निवारण हेतु सभी ज्ञानी वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं। प्रदूषण निवारण में जितने भी औद्योगिक यन्त्र, धुआं उगलने वाले इन तीव्रध्वनि कारक यन्त्र, कीटनाशक पदार्थ हैं उनका कम से कम प्रयोग हो तभी प्रदूषण दूर हो सकता है। विश्वपर्यावरण दिवस, विश्वजल दिवस, विश्व वन दिवस आदि उसी के उपक्रम हैं।

वर्तमान में पर्यावरण शुद्धता हेतु सर्वप्रथम जून उन्नीस सौ बहत्तर में स्टाकहोम में अन्ताराष्ट्रियसम्मेलन के माध्यम से प्रथम प्रयास किया गया। जिसमें 119 देशों से भाग ग्रहण किया गया। उसके बाद 5 जून उन्नीस सौ अठहत्तर को यू०एन०ओ० में पर्यावरण दिवस के रूप में प्रस्ताव पारित किया गया। तब से यह निरन्तर आयोजित किया जाता है। पर्यावरण को शुद्ध रखने हेतु वृक्ष आरोपित किए जा रहे हैं वे वृक्षारोपण प्रदूषण का सर्वोत्तम सरल उपाय है पर वह कम है।

सृष्टि के संञ्चालक सर्वज्ञ सबके रक्षक पालक परमेश्वर हैं जो कि केवल चिकित्सक ही नहीं है अपितु परम चिकित्सक हैं। पर्यावरण के संरक्षण में वेदों में बहुत से घटकों के सम्बन्ध में बताया गया है। उसमें सूर्य, अग्नि, यज्ञ, वृक्ष, वनस्पतियाँ, पर्वत, पशु कीटादि हैं वहीं पर्यावरण संरक्षकों में भूमि, जल, वायु आदि निर्दिष्ट हैं। वेदों में इसका विस्तार पूर्वक वर्णन है। वेदों में पर्यावरण के प्रति चिन्ता परिलक्षित होती है। वेदों में पर्यावरण के स्थल या परिधि प्रकार, आवरण आदि पर्यावरण के ही वाचक शब्द हैं। वेदों में पर्यावरण की बहुत अधिक चिन्ता व्यक्त की गई है। भूमि सभी की मातृस्वरूप है तभी तो वेद में इसे माता कहा गया है। **"माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"**[1]

अर्थात् भूमि हमारी माता है मैं उसका पुत्र हूँ। अर्थात् वही पालिका है रक्षिता है भूमि धन, सम्पदा देती है। युजुर्वेद में **"पृथिवी माता"**।[2] आगे **"अव त्वं**

1. अर्थर्ववेद 12.1.12
2. यजुर्वेद-2.10

धावापृथिवी[1] अर्थात् द्युतलोक और पृथिवी लोक में हमारी रक्षा करें। अथर्ववेद में **'भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्नि'**[2] अर्थात् हरितवर्णो से पृथ्वीपालन करे। इसके आगे भी यजुर्वेद में उपलब्ध होता है **पृथिवी यच्छ पृथिवी दृहे पृथिवी मां हिंसी।**[3] अर्थात् पृथिवी हमारी रक्षिता है इसे प्रदूषित न करें। तथा प्रथिवी देव्यजन्योषध्यास्ते मूलं यामहिंसिषम्।[4] अर्थात् पृथिवी यज्ञ की समिधा है, औषधियों का आधार है अतः उत्खनन करके उसे नष्ट नहीं करना चाहिए।

वेदों में जल प्रदूषण की भी चिन्ता विस्तार पूर्वक मिलती है। जल अमृतस्वरूप तथा जीवन की औषधि है। जल में रोग नाशक तत्त्व विद्यमान रहते हैं। वेदों में शक्तिवर्धक, सर्वरोगनाशक, बलधार रसायनभूत जल का महत्व प्रतिपादित है। उसके रक्षण के लिए निर्देश भी हैं।

अप्सु मे सोमो अव्रवीदन्तविश्वानिभेषजा.....आपश्च विश्वभेषजीः।[5] तथा **आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु थेतियात्।**[6] तथा **"आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन्हृद्द्योतभेषजम्।**[7] अर्थात् दिव्य गुण वाले जल निश्चित रूप से चिकित्सक की भांति हैं। यजुर्वेद में अपः पिन्वौषधीजिन्व।[8] अर्थात् जल औषधिभूत होता है। जल अमृत रूप में औषधि स्वरूप है उत्तम वैद्य है। हृदयरोगनाशक है आनुवंशिक रोगों के लिए परमौषधि है अतः जल का सरंक्षण आवश्यक है।

वायु को शुद्ध रखने हेतु वेद अत्यन्त चिन्तित दिखते हैं। जीवन का आधार वायु है। वायु अमृत की भांति प्राणतत्व देता है, वायु प्रदूषण को नष्ट करता है। वायु का वेदों में सर्वाधिक महत्व है। वायु को शुद्ध रखने हेतु निर्देश मिलता है।

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्रण आयूंषि तारिषत्।[9] बहुत स्थलों पर वायु संरक्षण के संदर्भ पर मन्त्र प्राप्त होते हैं **यददो वात ते मृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे।**[10]

---

1. यजुर्वेद–2.9
2. अथर्ववेद–2.28.5
3. यजुर्वेद–13.18
4. यजुर्वेद–1.25
5. ऋग्वेद–1.23.20
6. अथर्ववेद–3.7.5
7. अथर्ववेदः–6.24.1
8. यजुर्वेद–14.8
9. ऋग्वेद–10.186.1
10. ऋग्वेद–10.186.3

वायु की सुरक्षा हेतु अत्यन्त जागरूकतापूर्वक महत्व प्रदर्शित किया गया है। युचं वायो सवित च भुवनानि रक्षथस्तौ नौ मुञ्चतमंह्स।[1] अर्थात् हे वायु समस्त प्राणियों की सुरक्षा में अपना योगदान करें। अथर्ववेद में "वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशयन्।"[2]

आजकल ध्वनि प्रदूषण बहुत बढ़ गया है वेदों में ध्वनि ही मानव जीवन को व्यवहार के लिए प्रेरित करती है। श्रोवं ते शुन्धामि।[3] अर्थात् श्रोवेन्द्रियं त्रेन्द्रिय के हानिकारक तत्व ध्वनि प्रदूषण का निवारण करता है। यजुर्वेद में ध्वनिप्रदूषण से बचने हेतु मन्त्र प्राप्त होते है-

द्यां मां लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या सम्भव।[4]

यजुर्वेद में ही अन्तरिक्ष को ध्वनिप्रदूषण से मुक्त रखने हेतु मन्त्र आए हैं। अन्तरिक्षं दृंहान्तरिक्षं मा हिंसी।[5] अर्थात् निष्कर्ष यह है ध्वनि के द्वारा अन्तरिक्ष भी प्रदूषित होता है अन्तरिक्ष प्रदूषित होने से अनिद्रा, बहरापन, कैंसर आदि बीमारियां बढ़ती रहती हैं।

चरित्र पर्यावरण की चिन्ता भी वेदों की रही है संसार में चरित्र ही सबसे बड़ा धन होता है। चरित्र के नष्ट होने पर सारा सुख नष्ट हो जाता है। चरित्र के संघटक बुद्धि, मन आचार-विचार आदि होते हैं। वेदों में चरित्र रक्षा के अनेक उपदेश दिए गये हैं। यथा-**धियो यो नः प्रचोदयात्।**[6] यजुर्वेद में **तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।**[7] अर्थात् मन ही समग्र कार्यों का आधार है। सभी शुभ और अशुभ कार्यों का विचार मन ही करता है। इसीलिए परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि मन शिव सङ्कपी हो। युजुर्वेद में एक स्थल पर एक मंत्र में आचार को शुद्धि के लिए उपदेश दिए गये हैं। **इदमहमनृतात्यत्यमुपैमि।**[8] अर्थात् मैं मनुष्य हूँ अर्थात् सन्मार्ग द्वारा सत्याचरण को धारण करूँ।

पर्यावरण संरक्षण में वृक्षों का महत्वपूर्ण स्थान है। वृक्ष जीवन के लिए जीवन शक्ति प्रदान करते हैं प्रदूषण का नाश करते है। पर्यावरण का संरक्षण करते हैं। वेदों

---

1. अथर्ववेद-1.25.3
2. अथर्ववेद-3.21.10
3. यजुर्वेद-6.14
4. यजुर्वेद-5.43
5. यजुर्वेद-14.12
6. यजुर्वेद-36.3
7. यजुर्वेद-34.1.6
8. अथर्ववेद-12.1.27

में वृक्षों का वैशिष्ट्य बहुलता से वर्णित है–

यस्यां वृक्षा वनस्पत्या, ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवी विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि॥[1]

इस मंत्र में पृथिवी के साथ वृक्षों के संरक्षण का संकेत मिलता है। अथर्ववेद में एसे ही वर्णन मिलते हैं। वीरुधो वैश्वदेवीरूपाः पुरुषो जीविनः।[2] मयो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः।[3] वनानां पतये नमः।[4] वृक्षाणां पतये नमः[5] औषधीनां पतये नमः[6] नमो वन्याय च।[7]

बहुत से मंत्रों में वृक्षों और औषधियों के सरंक्षरण का सङ्केत मिलता है। वृक्षों को आरोपित करने हेतु ऋग्वेद आदेश होता है। वनस्पतिं वन अस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमवनन्त उत्सत्।[8]

तात्पर्य यह है कि वृक्ष औषधियां कार्बनडाईऑक्साइड जैसे जहरीली विष को दूर करती है संसार का पर्यावरण शुद्ध करते हैं। वेद में सूर्य का पर्यावरण शुद्धता हेतु महत्व प्रदर्शित किया गया है–

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु
रश्मिभिः ये अन्त क्रिमयो गवि।[9]

वेदों में यहाँ को पर्यावरण में सुरक्षा हेतु वर्णन प्राप्त होता है। यज्ञ पर्यावरण का प्रमुख साधन है घृत सोमादि हवि अग्नि में जलने से ऊष्मा पैदा होती है। यज्ञ वायु के रूप में अन्तरिक्ष को शुद्ध करता है अग्नि वायु के संयोग से शीतकरण होता है और जलवृष्टि होने लगती है। तभी अन्न पैदा होता है यजुर्वेद में स्पष्ट कहा गया–

मरुतां पृषतीर्गच्छ दशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह।[10] अन्तरिक्ष में ओजोन परत का अत्यधिक महत्व है। ओजोन का स्तर **तस्योत जायमानस्योल्व आसीद्धिरण्यायः कस्मै देवाय हविषा विधेय।**[11]

1. अथर्ववेद–8.7.4
2. यजुर्वेद–16.17
3. यजुर्वेद–16.17
4. यजुर्वेद–16.18
5. यजुर्वेद–16.19
6. यजुर्वेद–16.19
7. यजुर्वेद–16.34
8. ऋग्वेद–16.101.11
9. अथर्ववेद–2.32
10. यजुर्वेद–2.16
11. अथर्ववेद–4.2.8

इस प्रकार निश्चित है कि वेदों में पर्यावरणविषयक चिन्तन मनन बहुत अधिक किया गया है। ईश्वर ने वेदों में सृष्टि के आदि में पर्यावरण का पूर्ण चिन्तन किया है। **अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वपरिभूरसि।**[1] समासतः कहा जा सकता है कि वेदों ने ही सर्वप्रथम पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में विस्तार चिन्ता प्रकट की है तथा उसे शुद्ध करने हेतु सरल सुगम उपाय भी निर्दिष्ट किए हैं जिन्हें अपनाकर मानव जीवन सुखी आनन्दमय हो सकता है।

✦✦✦

1. ऋग्वेद–1.1.4

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (78-89) July-December 2018 ISSN 2277-4351

धर्मसूत्रों में वर्णित न्यायविधि एवं दण्ड व्यवस्था

-डॉ. नारायण प्रसाद भट्टराई*

समाज तथा राज्य में शान्ति तथा सुव्यवस्था के स्थापनार्थ एवं मनुष्यों को स्व कर्तव्य-पालन में प्रेरित करने के लिए न्याय व्यवस्था का मुख्य स्थान है। न्याय व्यवस्था का विस्तृत दिग्दर्शन हमें स्मृतियों में प्राप्त होता है, किन्तु इसका बीजारोपण वैदिक काल में ही हो चुका था। धर्मसूत्रों के काल में इस सम्बन्ध में नियम, दिशा-निर्देशादि का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है, तथा स्मृतिकाल में यह न्याय व्यवस्था पूर्णता को प्राप्त होती है। अतः न्याय व्यवस्था के सम्यक् स्वरूप के ज्ञानार्थ धर्मसूत्र अपरिहार्य है।

ऋग्वैदिक काल में न्याय के अर्थ में 'ऋत' शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है।[1] 'ऋत' परम उच्च अथवा सर्वातिशायी नियम अथवा व्यवहार अथवा समग्र सृष्टि की व्यवस्था के नियामक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसके द्वारा समस्त जगत् किं वा देवगण भी शासित होते हैं। यह शब्द यज्ञों से भी अविच्छेद्य रूप से सम्बन्धित है।[2]

धर्मसूत्रकालीन व्यवस्था में 'ऋत' शब्द के स्थान पर 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग न्याय आदि के अर्थ में हुआ है। गौतम धर्मसूत्र के वृत्तिकार हरदत्त मिश्र ने अपनी मिताक्षरा वृत्ति में व्यवहार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है-**'व्यवहरन्त्यनेनेति व्यवहारः व्यवहारो लोकमर्यादास्थापनम्।'**[3] गौतम तथा वसिष्ठ ने विधिक कार्यो के अर्थ में व्यवहार शब्द का प्रयोग किया है। गौतम ने वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग, उपवेद तथा पुराण को व्यवहार-निर्धारण में साधन के रूप में उल्लिखित किया है।[4] मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा अर्थशास्त्र आदि शास्त्रों में भी व्यवहार शब्द का प्रयोग विवाद, कलह, मुकदमा आदि के लिए किया गया है।[5] कात्यायन ने व्यवहार का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है-

---

* आचार्य, वेद विभाग, श्री माता वैष्णो देवी गुरुकुल, चरणपादुका, कटड़ा (जम्मू एवं कश्मीर)

1. ऋग्वेद 1/2/8, 1/68/2, 1/136, 10/190/1
2. ऋग्वेद 1/142/7, 1/105/12, 1/164/11, 2/28/4, 4/23/8-10
3. गौतमधर्मसूत्रम् 2/2/19 पर वृत्ति।
4. गौ.ध.सू. 2/2/19, वसिष्ठधर्मसूत्रम् 16/8

वि नानार्थेऽवसन्देहे हरणं हारः उच्यते।
नाना सन्देहे हरणाद् व्यवहारः इति स्मृतः॥[1]

दीपकलिका में भी विवाद अथवा कलह के अर्थ में व्यवहार पद का प्रयोग प्राप्त होता है।[2] यद्यपि आपस्तम्ब ने लेन-देन या वाणिज्य के अर्थ में व्यवहार पद का प्रयोग किया है।[3] न्यायार्थक व्यवहार के भेदों पर प्रकाश डालते हुए गौतम तथा आपस्तम्ब ने वाक्पारूष्य, दण्डपारूष्य, ऋणादान, निक्षेप तथा स्त्रीसंग्रहण आदि को व्यवहार के भेद के रूप में उल्लिखित किया है।[4] मनु के ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रयम, सम्भूय, समुत्थाय, दत्तस्यानपाकर्म, वेतनादान, संविदव्यतिक्रम, क्रमविक्रयानुपश्य, स्वामिपालविवाद, सीमाविवाद, वाक्पारूष्य, दण्डपारूष्य, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुंधर्म, विभाग, द्यूत, समाद्दवय आदि अष्टादशविध व्यवहारभेदों का उल्लेख अपने स्मृतिग्रन्थ में किया है।[5] व्यवहार के अन्य भेदों का उल्लेख भी अन्य आचार्यों ने किया है, किन्तु मनु विहित व्यवहारों के भेद युक्ति-युक्त प्रतीत होते हैं।[6]

न्याय करने के अधिकारी- धर्मसूत्र काल में न्याय करने का अधिकारी मुख्य रूप से राजा था। किन्तु न्याय कार्य को सुचारू रूप से सञ्चालित करने के लिए वह 'प्राड्विवाक्'=न्यायाधीश तथा धर्मपरिषद् की स्थापना भी करता था। जो न्यायिक कार्यों में राजा के सहायक होते थे। इनका विवेचन कुछ इस प्रकार से उल्लिखित है-

(क) राजा-न्याय का सर्वप्रथम अधिकार राजा को था। राजा से अपेक्षा की जाती थी कि वह पक्षपात से रहित होकर न्याय करे।[8] गौतम के अनुसार राजा के प्रजा के प्रति समान भाव रखते हुए न्याय करना चाहिए। ऐसा करने पर राजा प्रजाओं से पुण्य का छठा भाग प्राप्त करने का अधिकार हो जाता है।[9] राजा को स्वयं न्याय

---

1. मनुस्मृतिः 8/1-8, याज्ञ.स्मृ. 2/1-5, कौटि. अर्थ. 3/16/43 4/8/18, वसि.ध.सू. 16/1, वि.ध.सू. 3/72-73
2. व्यवहारमयूख पृ.-283
3. व्यवहारान् भूमिपतिः स्वयं निर्णयेत्॥ दीपकलिका, पृ.-36
4. आपस्तम्बधर्मसूत्रम् 1/7/20/11, 1/7/20/16, व्यवहारो वाणिज्यम् आप.ध.सू. 2/7/16/16 पर उज्ज्वलावृत्ति।
5. गौ.ध.सू. 2/3/1-2, 2/3/12-13, 2/3/39, आप. ध.सू 1/9/25/1-2, 1/10/20/19-20
6. मनु. 8/4-7
7. याज्ञ.स्मृ., मिताक्षरा 2/5, नारद 1/16/19, अर्थशा. 3/20
8. गौ.ध.सू. 2/2/6, 2/1/8, वसि.ध.सू. 16/2, याज्ञ.स्मृ. 1/327
9. समः प्रजासु स्यात् धर्मस्य ह्यंशभागभवतीति। गौ.ध.सू. 2/2/5,11

करना चाहिए अथवा किसी प्राड्विवाक ब्राह्मण से न्याय करवाना चाहिए।[1] राजा को विवादों का निर्णय वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग, उपवेद एवं पुराणों के आधार पर करना चाहिए। इन्हीं के अनूकूल देश, जाति तथा कुल के नियमों का पालन भी करना चाहिए।[2] राजा को तर्क पूर्ण विचार-विमर्श करते हुए उचित निर्णय करना चाहिए।[3] इस प्रकार न्यायपूर्वक दण्ड विधान करने वाला राजा इस लोक में सम्मानित होता हुआ स्वर्ग प्राप्त करता है।[4]

(ख) प्राड्विवाक- धर्मसूत्रों में सर्वप्रथम गौतम ने प्राड्विवाक शब्द का प्रयोग किया है।[5] प्राड्विवाक शब्द की व्युत्पति बताते हुए मिताक्षरा वृत्तिकार का कथन है कि प्राड् शब्द 'पृच्छ्' धातु से निष्पन्न है तथा विवाक-शब्द का अर्थ है प्रश्न पूछना, तथा वाक् से प्राड्विवाक का अर्थ है बोलना अथवा विश्लेषण करना।[6] नारद ने प्राड्विवाक की व्याख्या इस प्रकार की है-

विवादसंश्रुतं धर्म पृच्छति प्रकृतमस्मत्।
विवेचयति यस्तस्मात् प्राड्विवाकस्तु स स्मृतः॥[7]

अर्थात् प्राड्विवाक वह है जो विवाद में निहित प्रश्न को पूछता है तथा उस पर विवेचना करता है। यही अर्थ शुक्रनीतिकार ने भी अभीष्ट माना है।[8] यद्यपि मनु तथा याज्ञवल्क्य ने इस महत्वपूर्ण पदाधिकारी का नामतः उल्लेख अपने स्मृतिग्रन्थों में नहीं किया है, किन्तु सभा में राजा की अनुपस्थिति में विद्वान् ब्राह्मण को प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त करने का विधान स्मृतिग्रन्थों में प्राप्त होता है।[9] वस्तुतः न्यायिक कार्यों में प्राड्विवाक की महती भूमिका थी। यह विधि सम्बन्धी नियमों का पूर्णज्ञाता होने के साथ-साथ शास्त्रज्ञ होता था, साथ ही साथ देशधर्म और जातिधर्म आदि का भी यह भली-भाँति परिचित व ज्ञाता होता था।[9]

धर्मशास्त्रकारों ने न्यायकर्ता प्राड्विवाक् की योग्यता पर अधिक बल दिया है। गौतम का मत है कि प्राड्विवाक को बहुशास्त्रज्ञ होना चाहिए। उसे लोक, वेद-वेदाङ्गों

---

1. राजा प्राड्विवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित्। गौ.ध.सू. 2/4/26
2. गौ.ध.सू. 2/2/19-20
3. गौ.ध.सू. 2/2/24
4. आप.ध.सू. 2/5/11/4, मनुस्मृतिः 8/128
5. गौ.ध.सू. 2/4/26
6. नारदस्मृतिः, स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ.-29
7. शुक्रनीतिः 4/5/66
8. मनुस्मृतिः 8/9-10, याज्ञ. स्मृ. 2/3
9. ए.एस. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति. पृ-186

का ज्ञाता, तर्कशास्त्र, इतिहास तथा पुराणों में पारङ्गत होना चाहिए। उसे वेदोपदेष्टा तथा तदनुरूप आचरणशील होना चाहिए। उसे चालीस संस्कारों से संस्कृत होते हुए ब्राह्मणोचित कर्मों का पालन करना चाहिए। उसे सामयिक व सामाजिक होना चाहिए।[1] आपस्तम्ब के अनुसार विद्यावान्, कुलीन, वृद्ध, बुद्धिमान् तथा धर्मपालन में सावधान व्यक्ति को ही अर्थी तथा प्रत्यर्थी के विवाद में निर्णायक के रूप में नियुक्त करना चाहिए।[2]

(ग) न्यायपरिषद्-धर्मसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि साधारण विवादों का निर्णय राजा अथवा प्राड्विवाक कर देते थे, किन्तु अर्थी-प्रत्यर्थी में जटिल विवादों का निर्णय न्यायपरिषद् के परामर्श से किया जाता था, यद्यपि परिषद्, सभा, समिति आदि का उल्लेख वैदिक काल से ही प्राप्त होता है।[3] परन्तु इनके स्वरूप के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। एन.सी. बन्दोपाध्याय के मतानुसार सभा का प्रारम्भिक स्वरूप कबीले की संस्था के रूप में थी। कालान्तर में यह गोत्र तथा रक्त से सम्बद्धजनों का संगठन हो गया। फिर वह अभिजात वर्गीय केन्द्रीय सङ्गठन होने लगा, जिसमें राजा भाग लेता था। अन्त में यह राजा की परामर्शदात्री और न्यायिक सभा हो गई।[4] यजुर्वेद के प्रमाणों[5] के आधार पर लुड्विग ने सभा का अर्थ न्यायालय तथा जिमर ने स्थानीय विवादों का निर्णय करनेवाला न्यायालय माना है।[6] धर्मशास्त्रों के काल तक सभा के अर्थ में अनेक पर्याय उपस्थित हो गए। वसिष्ठ धर्मसूत्र में न्यायालय के लिए सदस्, शङ्खस्मृति में धर्मस्थान[7] शब्द का प्रयोग किया गया है।

गौतम धर्मसूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि जिस विषय में किसी नियम का विधान नहीं किया गया हो, उसके सम्बन्ध में वही करना उचित होता है, जो न्यूनातिन्यून दस विद्वान्, विवेकी एवम् अलोभी ब्राह्मण अपनी सहमति, स्वीकृति दे और उसे कहें। वेदज्ञों की आज्ञा के अनुसार न्याय करना चाहिए।[8] विद्वानों के इस समूह को आधुनिक न्यायपरिषद् (ज्यूरी) कहा जा सकता है। गौतम, बौधायन तथा

---

1. गौ.ध.सू. 1/8/4-11
2. आप.धू.सू. 2/11/29/5
3. अथर्ववेद 7/13/1
4. एन.सी. बन्दोपाध्याय, डब्लपमेंट ऑफ हिन्दू पॉलिटी एण्ड पॉलिटिकल थियोरिज, पृ. 110-118
5. वाज.सं. 3/45, 20/17, तैत्ति.सं.1/8/3/1, मैत्र.सं. 1/10/2
6. सेक्रेड ब्रक ऑफ दि ईस्ट, भाग-12, पृ.-398
7. वसि.ध.सू. स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ.-42
8. गौ.ध.सू. 3/10/46, 2/2/25, 2/3/49

आपस्तम्ब धर्मसूत्रों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

न्यायपरिषद् की एक निश्चित संख्या धर्मसूत्रों में प्राप्त नहीं होती है। गौतम तथा बौधायन ने इस परिषद् में चारों वेदों के ज्ञाता विद्वान्, एक मीमांसक, एक वेदाङ्ग का ज्ञाता, एक धर्मशास्त्र तथा विभिन्न आश्रमों के तीन ब्राह्मणों सहित दस (10) विद्वानों की नियुक्ति के सङ्केत दिए हैं।[2] विशेष परिस्थिति में ऋषि गौतम ने इस परिषद् में एक सदस्य के द्वारा भी निर्णय दिए जाने का विधान किया है।[3] बौधायन का कथन है कि न्यूनातिन्यून पाँच अथवा तीन पातक आदि दोषों से रहित एक सदस्य भी इस परिषद् में हो सकता है।[4] परिषद के सदस्यों की योग्यता के विषय में धर्मशास्त्रकारों का कथन है कि वेदज्ञ, कर्तव्यनिष्ठ, बुद्धिमान्, कुलीन, पक्षपात से रहित, स्थिर तथा अर्थशास्त्रज्ञ ब्राह्मण को ही परिषद् का साक्ष्य बनाया जाना चाहिए।[5] मन्त्रहीन, अवेदज्ञ तथा केवल जाति के नाम पर निर्वाह करने वाले सहस्र व्यक्तियों को भी परिषद् के लक्षणों से युक्त नहीं माना जा सकता है।[6]

न्याय के निर्धारण में प्रमाण एवं साक्ष्य

धर्म सूत्रों में न्याय का निर्धारण करते समय विभिन्न प्रमाणों का ध्यान रखने के निर्देश प्राप्त होते हैं। गौतम का मानना है कि वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग, उपवेद तथा पुराणादि ग्रन्थ न्याय के साधन हैं। स्व-स्व वर्ण में कृषक, व्यापारी, गौपालक, महाजन तथा शिल्पी भी प्रमाण माने गए हैं। न्यायकर्ता को तत्तत् वर्णों के अधिकार के अनुकूल नियमों को जानकर धर्मानुसार न्याय करना चाहिए।[7] त्रयी विद्या में निष्णात व्यक्तियों का परामर्श भी न्याय में प्रमाण माना गया है।[8] बौधायन धर्मसूत्र में स्थानीय रीति-रिवाजों, परम्पराओं को भी प्रमाण मानते हुए निर्देश दिया गया है कि कुछ प्रदेशों में पृथक्-पृथक् आचरण के नियम हैं इन विशिष्ट नियमों में उसी प्रदेश विशेष के नियम को प्रमाण मानना उचित होता है।[9] ऋषि बौधायन का मत है कि महर्षि गौतम

---

1. गौ.ध.सू. 3/10/47-49, बौ.ध.सू. 1/1/1/6-9, आप.ध.सू. 2/11/29/5
2. गौ.ध.सू. 3/10/47 बौ.ध.सू. 1/1/1/7-8
3. गौ.ध.सू. 3/10/47-48
4. बौ.ध.सू. 1/1/1/9
5. गौ.ध.सू. 3/10/46, बौ.ध.सू. 1/1/1/8, आप.ध.सू. 2/11/29/5, वि.ध.सू. 3/74, याज्ञवल्क्यस्मृतिः 2/2
6. बौ.ध.सू. 1/1/1/10-12
7. गौ.ध.सू. 2/2/21
8. गौ.ध.सू. 2/2/23-25
9. बौ.धू.सू. 1/1/2/2-6

इन स्थानीय नियमों को प्रमाण नहीं मानते हैं।[1] किन्तु उपलब्ध गौतमधर्मसूत्र में यह निषेध वाचक सूत्र प्राप्त नहीं है।

आपस्तम्ब ने विधान किया है कि सन्देहास्पद विषयों में अनुमान, दैवपरीक्षण आदि साधनों से वास्तविकता का निर्धारण करना चाहिए।[2] स्मृतिकारों का कथन है कि न्यायकर्ता को अपना निर्णय धार्मिक ग्रन्थों की व्यवस्थाओं के अलोक में देना चाहिए। न्यायकर्ता धर्मशास्त्रों का अतिक्रमण नहीं कर सकते थे।[3] न्याय के निर्धारण में इन सभी प्रमाणों के अतिरिक्त साक्षी सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रमाण था। विष्णु धर्मसूत्र के अनुसार **'समक्षदर्शनात्साक्षी श्रवणाद्वा'**[4] अर्थात् साक्षात् द्रष्टा अथवा श्रोता व्यक्ति ही साक्षी होता है। गौतम का मानना है कि विवादास्पद जटिल विवादों का निर्धारण साक्षियों की सहायता से सम्भव है।[5] अपने कर्म में प्रतिष्ठित, राजा का विश्वासपात्र, पक्षपात अथवा द्वेष न रखने वाला व्यक्ति साक्षी हो सकता था।[6] कुलीनता, सन्तानयुक्तता, पवित्रता, निष्पक्षता, सत्यवादिता, स्पष्टवादिता, विश्वसनीयता तथा लोभहीनता आदि साक्षी के प्रमुख गुण माने गए हैं।[7]

न्याय प्रक्रिया

धर्मसूत्रों के परिशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन न्यायालयों में न्याय हेतु प्रक्रिया का निर्धारण किया गया था। गौतम ने निर्देश दिए हैं कि प्रार्थी को न्यायकर्ता के समक्ष उपस्थित होकर न्याय हेतु निवेदन करना चाहिए। इस स्थल पर वृत्तिकार हरदत्त का कथन है कि अभ्यर्थी को आसन पर उपविष्ट न्यायाधीश के समक्ष एतदर्थ प्रार्थना करनी चाहिए।[8] यद्यपि नारद ऋषि का मानना है कि असमर्थ व्यक्ति अपने स्थान पर अपने प्रतिनिधि को भी न्यायालय भेज सकते थे।[9] स्पष्ट है कि किसी विवाद के होने पर पीड़ित को न्यायाधीश के समक्ष अपना पक्ष रखना अनिवार्य था। प्रार्थी के द्वारा न्यायार्थ प्रार्थना करने पर न्यायाधीश विवाद के सत्यासत्य के ज्ञानार्थ साक्षी को शपथ दिलाकर प्रश्न पूछता था। साक्षी के कथन की सत्यता की परीक्षा

---

1. मिथ्यैतदिति गौतमः॥ बौ.ध.सू. 1/1/2/7
2. आप.ध.सू. 2/11/29/6
3. याज्ञवल्क्यस्मृतिः 2/4, शुक्रनीतिः 4/532-534, नारदस्मृ. 1/37
4. वि.ध.सू. 8/13
5. गौ.ध.सू. 2/4/1, अर्थशास्त्र 3/56
6. गौ.ध.सू. 2/4/2
7. बौ.ध.सू. 1/11/21/9, वसि.ध.सू. 16/28, वि.ध.सू. 8/8
8. प्राड्विवाक्मध्याभवेत्। गौ.ध.सू. 2/4/27, इसी सूत्र पर मिताक्षरी टीका।
9. नारदस्मृतिः 1/53, 4/621-626

अनुमान देवपरीक्षण आदि के द्वारा की जाती थी।[1] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार साक्ष्य के लिए नाम पूर्व में ही लिख लिए जाते थे। किन्तु हिंसा आदि विशेष प्रकरणों में जिनका नाम साक्षियों में न होवे वे भी साक्ष्य दे सकते थे।[2] साक्षी के द्वारा असावधानीवश अन्यथा कथन करने पर दण्डित करने का विधान नहीं था।[3] नियुक्त पुरुषों के द्वारा ज्ञात होने पर भी कथन न करने अथवा अन्यथा कथन करने पर उसे दोषयुक्त माना जाता था।[4]

न्याय के समय के विषय में गौतम का कथन है कि साक्षी अथवा अभियुक्त के उत्तर न देने पर एक वर्ष तक उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। परंतु गौ, बैल, स्त्री तथा विवाहादि ऐसे प्रकरण जिनसे सम्बन्धित विवादों के निर्णय से हानि की सम्भावना हो उनका निर्णय शीघ्र करने का प्रयत्न करना चाहिए।[5] न्यायाधीशों में अथवा न्यायहेतु गठित परिषद् में किसी विवाद अथवा निर्णय पर असमान विचार होने पर राजा विद्याओं में कुशल, वेदज्ञ तथा विज्ञजनों से सहमति प्राप्त कर निर्णय लेता था।[6] ऐसी मान्यता थी कि न्यायाधीश राजा के द्वारा सत्य का ज्ञान अनुमानादि के द्वारा ज्ञान वैसे ही कर लिया जाता है, जिस प्रकार जंघभाग से स्त्री का ज्ञान हो जाता है।[7]

न्याय करने वाले राजा तथा न्यायाधीश सत्य निर्णय करने पर पुण्य तथा असत्य निर्णय करने पर विपरीत फल के भागी होते थे। महर्षि गौतम तथा आपस्तम्ब का कथन है कि उचित निर्णय करने वाला राजा दोनों लोकों पर विजय प्राप्त करता है।[8] न्याय करते समय अनुचित निर्णय करने पर धर्म एवं लोक-व्यवहार की हानि होती है। इस कारण साक्षी-सभापद-राजा-अपराधी आदि सभी दोषी होते है।[9] बौधायन ने इस प्रकार अनुचित निर्णय होने पर दोष का विभाजन करते हुए कहा है कि अनुचित निर्णय करने पर अधर्म का निर्धारण करते हुए कहा है-चतुर्थांश अपराधी का, चतुर्थांश निर्णायक का तथा चतुर्थांश राजा का होता है। किंतु जहाँ अनुचित की ही निन्दा होती है वहाँ समस्त दोष अपराधी का ही होता है। राजा अथवा सभासद

---

1. गौ.ध.सू. 2/4/12, बौ.ध.सू. 1/10/19/11-12, आप.ध.सू. 2/11/29/6-7
2. गौ.ध.सू. 2/4/8-9
3. प्रमत्तोक्ते च॥ गौ.ध.सू. 2/4/10
4. गौ.ध.सू. 2/4/6, मनु. 8/13
5. गौ.ध.सू. 2/4/28-30, मनु. 8/24, कौटिल्य अर्थ. 1/19, याज्ञ.स्मृ. 2/12
6. गौ.ध.सू. 2/2/5, 2/3/49, पारदस्मृ. 3/17
7. अग्निपुराण अध्या. 244/1-6, पा.गृ.सू. विवाह प्रकरण।
8. गौ.ध.सू. 2/2/26, आप.ध.सू. 2/5/11/4
9. गौ.ध.सू. 2/4/11

दोषमुक्त हो जाते हैं।[1] पक्षपात पूर्ण निर्णय देने पर कौटिल्य ने न्यायाधीशों के लिए भी दण्ड देने का निर्देश किया है।[2]

दण्ड विधान

दण्ड विधान न्याय प्रक्रिया की पूर्णता है। विवाद का निर्णय हो जाने पर न्यायाधीश अथवा राजा के द्वारा अपराधी को दण्ड दिया जाता था। गौतम ने छः प्रकार के दण्डों का उल्लेख किया है-

(1) वध (2) बन्धन (3) आर्थिक दण्ड (4) निष्कासन (5) दोष-प्रचार के द्वारा अपमान (6) त्याग।[3] मनु ने दण्ड के चार प्रकार बताए हैं-(1) वाक्दण्ड (2) दिक्दण्ड (3) धन दण्ड (4) वध दण्ड। यदि इन दण्डों के पृथक्-पृथक् प्रयोग से भी अपराधी वश में न आए तो एक साथ चारों दण्ड देना चाहिए।

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्दिक्दण्डं तदनन्तरम्।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्।।[4]

धर्म सूत्रों में उल्लिखित कुछेक प्रमुख दण्ड निम्नलिखित हैं-

(क) उपवास- ऋषि आपस्तम्ब ने विधान किया है कि ब्राह्मण के द्वारा नियमों का व्यतिक्रम करने पर उसका वध अथवा दासकर्म न कराते हुए उसे उपवास कराकर दण्डित करना चाहिए।[5] उच्च वर्ण की स्त्री यदि शूद्र वर्ण के पुरुष के साथ मैथुन करे तो उसे भी उपवास के द्वारा कृशकाय कर दण्डित करने का विधान भी आपस्तम्ब ने किया है।

(ख) ताडना- गौतम तथा आपस्तम्ब ऋषि का मानना है कि द्विजातियों के साथ आसन, शयन, वार्तालाप आदि समानता का व्यवहार करने पर शूद्र की दण्ड से ताड़ना करनी चाहिए।[7] कृषि के कार्य में भूस्वामी के वश में न रहते हुए मध्य में ही कार्य छोड़कर जाने वाले तथा गौ, पशु आदि के चरवाहे को इसी प्रकार के अपराध करने पर ताड़ना करने का नियम था।[8]

---

1. बौ.ध.सू. 1/10/19/10
2. कौटिल्य अर्थ. 4/5
3. गौ.ध.सू. 1/8/13
4. मनु. 8/129 तथा 8/130
5. आप.ध.सू. 2/5/10/17
6. आप.ध.सू. 2/11/28/5
7. गौ.ध.सू. 2/3/5, आप.ध.सू. 2/10/27/15
8. आप.ध.सू. 2/11/28/2-3, 1/9/25/4, गौ.ध.सू. 2/3/41

(ग) भर्त्सना- आपस्तम्ब ने विधान दिया है कि यदि आभूषणों से अलंकृत कोई युवक अज्ञानतावश किसी ऐसे स्थान में प्रवेश करता है, जहाँ विवाह योग्य कन्या अथवा विवाहिता स्त्री उपस्थित हो तो उसे डांट कर रोकना चाहिए।[1] इसी प्रकार इन्धन, जन, मूल, फल, गन्ध, तृण, शाक आदि को स्वामी की अनुमति लिए बिना ग्रहण करने पर राजपुरुष सम्बन्धित को डांट कर रोक देते थे।[2]

(घ) बन्धन- आपस्तम्ब धर्मसूत्र में विधान दिया गया है कि वर्णाश्रम अथवा अन्य नियमों का उल्लङ्घन करने पर अपराधी को तब तक बन्धन में रखना चाहिए जब तक वह नियमों के पालन की तथा निषिद्ध कर्मों के न करने की प्रतिज्ञा न कर ले।[3]

(ङ) अङ्गच्छेद- गौतमधर्म सूत्र में उल्लेख है कि यदि शूद्र अन्य वर्णों का जान बूझकर वाणी अथवा अन्य अङ्गों के द्वारा उत्पीडन करता है तो उसका वह अङ्ग काट देना चाहिए।[4] द्विजाति वर्ण की स्त्री से मैथुन करने पर दण्ड स्वरूप शूद्र का जननेन्द्रिय काटकर अङ्गच्छेद का विधान था।[5] आपस्तम्ब का मत है कि बलात्कार करने वाले का अण्डकोष सहित शिश्न काट देना चाहिए। ब्राह्मण यदि अपराध करे तो उसे सर्वदा के लिए नेत्रविहीन कर देना चाहिए।[6]

(च) निष्कासन- दण्ड का भोग करने के पश्चात् भी यदि कोई अपराधी नियमों के पालन की प्रतिज्ञा नहीं करता था तो उसे ग्राम से निष्कासित करने का विधान आपस्तम्ब धर्मसूत्र में प्राप्त होता है।[7] युवक के द्वारा कुमारी कन्या से मैथुन करने पर उसकी समस्त सम्पत्ति का अपहरण कर उसे निष्कासित किया जाता था।[8]

गौतम तथा बौधायन ऋषि ने अवध्य होने के कारण ब्राह्मण को वध योग्य अपराध करने पर भी वध न करते हुए सम्पत्ति का अधिग्रहण कर निष्कासित करने का विधान किया है।[9] ब्राह्मण के द्वारा ब्राह्मण की हत्या करने पर, गुरुपत्नी गमन

---

1. आप.ध.सू. 2/10/26/18
2. आप.ध.सू. 2/11/28/11
3. आप.ध.सू. 2/10/27/18
4. गौ.ध.सू. 2/3/1/, आप.ध.सू. 2/10/27/14
5. गौ.ध.सू. 2/3/4
6. आप.ध.सू. 2/10/27/17
7. असमापत्तौ नाश्यः॥ आप.ध.सू. 2/10/27/20
8. कुमार्यौ तु वान्याक्षय नाश्यः। आप.ध.सू. /10/26/21, नाश्य आर्यशूद्रायाम्॥ आप.ध.सू. 2/10/27/8
9. न शारीरो ब्राह्मणः दण्डः। गौ.ध.सू. 2/3/43, अवध्यो वा ब्राह्मणस्सर्वापराधेषु। बौ.ध.सू. 1/10/18/17, आप.ध.सू. 2/5/10/17, वि.ध.सू. 5/12, मनु. 8/380

करने पर, सुवर्ण की चोरी तथा सुरापान करने पर उसके ललाट पर क्रमशः मनुष्य का धड, स्त्री-योनि, शृगाल तथा सुरापान की आकृति जलते हुए लोहे से अङ्कित कर निष्कासित करने की व्यवस्था धर्मग्रन्थों में दी गई है।[1] निष्कासन करने का विधान वेदों में भी प्राप्त होता है।[2]

(छ) मृत्युदण्ड- आपस्तम्ब ने व्यवस्था दी है कि उच्च वर्णों की स्त्री के साथ मैथुन करने वाला अद्विजाति मृत्युदण्ड का भागी होता है। यद्यपि गौतम ने इस अपराध हेतु शूद्र की सम्पत्ति का हरण कर उसे निष्कासित करने का विधान किया है किन्तु यदि स्त्री की रक्षा में नियुक्त शूद्र के द्वारा उसी स्त्री के साथ मैथुन किया गया हो तो वह वध योग्य होता है।[3] यहाँ बौधायन ऋषि ने अधिक कठोर दण्ड का विधान करते हुए ऐसे शूद्र को अग्नि में जलाकर मारने का निर्देश दिया है।[4] न केवल शूद्र अपितु यदि कोई भी ब्राह्मणेतर वर्ण का पुरुष ब्राह्मणी परदारा से इस प्रकार का अपराध करे तो उसे भी अग्नि में जलाकर मृत्युदण्ड देने का निर्देश दिया गया है।[5] मृत्यु दण्ड के अन्य कठोर प्रकार का उल्लेख करते हुए ऋषि गौतम का कथन है कि अपने से निम्न वर्ण के पुरुष के साथ सम्भोग करने वाली स्त्री को सार्वजनिक स्थान पर राजा कुत्तों से कटवाएँ तथा उस पुरुष का भी वध करे।[6] बौधायन ने अन्य वर्ण के पुरुष के द्वारा ब्राह्मण का वध करने अथवा सम्पत्ति हरण करने पर मृत्युदण्ड देने का उल्लेख किया है।[7] अन्य धर्माचार्यों ने भी गर्हित अपराधों के लिए मृत्यु दण्ड देने का विधान किया है।[8]

(ज) आर्थिक दण्ड- धर्मसूत्रों में सामान्य अपराधों के लिए अर्थदण्ड प्रदान करने का विधान किया गया है। गौतम का मानना है कि चुकाए गए धन का चौसठ गुना ब्राह्मण को, क्षत्रिय को बत्तीस गुना, वैश्य को सोलह गुना तथा शूद्र को आठ गुना आर्थिक दण्ड देना चाहिए।[9] इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठ वर्ण को अधिक दण्ड का

---

1. गौ.ध.सू. 2/3/44, बौ.ध.सू. 1/10/18218, याज्ञ.स्मृ. 2/270 कौटि.अर्थ. 4/83/8
2. ऋग्वेद 1/114/10
3. आप.ध.सू. 2/10/27/9, गौ.ध.सू. 2/3/2-3, याज्ञ.स्मृ. 2/283
4. शूद्रं कटारिनना दहेत्। बौ.ध.सू. 2/2/3/53
5. बौ.ध.सू. 2/2/4/1
6. गौ.ध.सू.2/3/14-15
7. बौ.ध.सू. 1/10/19/19
8. मनु. 9/279, याज्ञ.स्मृ. 2/282, 2/279, कौटि अर्थ. 4/87/12, 4/86/11, मत्स्यपु. 227/200
9. गौ.ध.सू. 2/3/12-13

विधान इस लिए था कि चातुवर्ण्य में विद्या का अधिक उत्कर्ष ही मुख्य कारण था।[1] सभी वर्णों के द्वारा परस्पर अपमान अथवा तिरस्कार जैसे अपराधों पर भी आर्थिक दण्ड का प्रावधान था। गौतम ने उल्लेख किया है कि ब्राह्मण के द्वारा क्षत्रिय का अपमान होने पर पचास पण (मुद्रा), वैश्य का अपमान होने पर पच्चीस पण दण्ड होता है। किन्तु शूद्र का अपमान करने पर ब्राह्मण को आर्थिक दण्ड नहीं देना पड़ता था।[2] क्षत्रिय के द्वारा ब्राह्मण के अपमान होने पर एक सौं कार्षापण (ताम्रनिर्मित मुद्रा, 16 सामान्य मुद्रा के बराबर 'एक कार्षापण' का मान होता है)[3] तथा वैश्य का अपमान होने पर एकसौ पचास कार्षापण दण्ड स्वरूप देने होते थे।[4] ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के परस्पर अपमान का जो दण्ड होता है वही दण्ड क्षत्रिय तथा वैश्य को परस्पर अपमान करने पर दण्ड-स्वरूप देना पड़ता था।[5] यदि रक्षा पुरुष की सीमा में कोई चोरी होती थी जो उस चुराई गई सम्पत्ति की क्षतिपूर्ति उस रक्षापुरुष से कराई जाती थी। किन्तु चोर का पता लगने पर वह इस दण्ड का भागी नहीं होता था।[6]

(झ) कृषि एवं पशुपालन सम्बन्धी दण्ड- कृषि तथा पशुपालन धर्मसूत्रकालीन समाज की प्रमुख आजीविका का प्रमुख साधन था। अतः इनसे सम्बन्धित विवाद भी तत्कालीन समाज में प्रचुर मात्र में होते थे। जिनके लिए तदनुसार दण्ड दिया जाता था। आपस्तम्ब का मानना है कि यदि कोई व्यक्ति भूस्वामी से कृषि हेतु भूमि लेकर उस पर कृषि नहीं करता है तो सम्भावित फसल का मूल्य उसे भूस्वामी को देना चाहिए।[7] इसी प्रकार चरवाहे के द्वारा पशुओं की उचित परिचर्या न करते हुए उन्हें मर जाने दिया जाए अथवा चौरों के द्वारा अपत होने दिया जाए तो उन पशुओं का मूल्य राजा चरवाहे से पशुओं के स्वामी को दिलवाए।[8] गौतम ने विधान किया है कि पशुओं के द्वारा फसल को क्षति पहुँचाने पर पशुओं के स्वामी अथवा यदि चरवाहा है तो उस चरवाहे का दोष होता है। किन्तु यदि मार्ग से लगे हुए खेत में यदि भूस्वामी ने पशुओं से सुरक्षार्थ व्यवस्था न की हो तो पशुओं के स्वामी के साथ भूस्वामी भी दोषी होता था।[9] गौ के द्वारा फसल को क्षति पहुँचाने पाँच माष, अश्व तथा महिषों

---

1. विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्॥ गौ.धू.सू. 2/3/14
2. गौ.ध.सू. 2/3/8-10
3. मनु. 8/136
4. गौ.ध.सू. 2/3/6-7
5. गौ.ध.सू. 1/3/11
6. आप.ध.सू. 2/10/26/8
7. आप.ध.सू. 2/11/28/1
8. आप.ध.सू. 2/11/28/7
9. गौ.ध.सू. 2/3/16-18

के द्वारा क्षति पहुँचाने पर दस माष तथा बकरी, भेड़ आदि के द्वारा क्षति पहुँचाने पर दो माष दण्ड देने का विधान गौतम ने दिया है।[1] यदि पशुओं के द्वारा सम्पूर्ण फसल नष्ट कर दी जाती है तो उस फसल का समस्त सम्भावित मूल्य पशुओं के स्वामी से दिलवाया जाता था।[2] अल्पफल, हरित धान्य एवं शाकादि की चौरी करने वाले अपराधी से पाँच कृष्णल[3] दण्ड स्वरूप लिए जाते थे। परन्तु गौ के भोजनार्थ चारा, श्रौत तथा स्मार्त यज्ञाग्नि हेतु इन्धन, देवपूजार्थ लता एवं पुष्प-फल पत्रादि की स्वामी की आज्ञा के बिना भी ग्रहण करने का उल्लेख धर्मसूत्रों में प्राप्त होता है।[4]

इस तरह धर्मसूत्रों के अतिरिक्त अग्निपुराण के व्यवहार कथन[5] नामक प्रकरण में भी न्यायालय में अभियोग लगाने और विभिन्न साक्ष्यभेदों आधार पर अपराध सिद्ध होने पर पृथक्-पृथक् अपराध के अनुरूप दण्ड का विस्तृत विधान प्राप्त होता है। आपस्तम्ब ने व्यवस्था दी है कि आचार्य, ऋत्विक्, स्नातक तथा राजा मृत्यु दण्ड के अतिरिक्त अन्य दण्ड प्राप्त अपराधी को दण्ड से मुक्त कर सकते हैं।[6]

✦✦✦

1. गौ.ध.सू. 2/3/19-22
2. गौ.ध.सू. 2/3/23
3. पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश, मनु. 8/17
4. गौ.ध.सू. 2/3/15, 2/3/25
5. अग्निपु. अध्या. 253-255 (कुल श्लोक=143) चौ.सं.सी.वाराणसी।
6. आप.ध.सू. 2/10/27/11

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (90-95) July-December 2018 ISSN 2277-4351

पृष्ठ-स्तोत्रों के सामगानों का ज्योतिस्वरूप

-सन्दीप[1]

कर्म व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। कर्म से मनुष्य अपनी मनोवाञ्छित इच्छाओं को पूरा करता है। वेद भी सौ वर्ष तक या जब तक जीवन है जब तक कर्म करने की आज्ञा देता है।[2] कर्म जीवन की अपरिहार्य वस्तु है। कर्म सम्बन्ध में जानने के लिये कल्प साहित्य का अध्ययन अपेक्षित होता है। कल्प में भी ब्राह्मण ग्रन्थ पूजनीय है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थ ही सम्पूर्ण कल्प का आधार है। ब्राह्मणों में दो विषय प्रधान है—कर्मकाण्ड तथा उपनिषद्। ये दोनों ही एक दूसरे के पूरक है। अब सोमयाग संस्था के अन्तर्गत मूल रूप में विद्यमान माध्यन्दिन सवन के अन्तर्गत पृष्ठ स्तोत्रों के महत्त्व को विभिन्न् शास्त्रीय वचनों के साथ प्रस्तुत करते है। द्वादशाह याग तथा षडह अहीन यागों में पृष्ठ स्तोत्रों को माध्यंदिन सवन में गाया जाता है। ऋत्विजों के नाम वाले पृष्ट स्तोत्र चार होते हैं-1. होता। 2. मैत्रावरुण (प्रशास्ता)। 3. ब्राह्मणाछंसी। 4. अच्छावाक्। अग्निष्टोम याग में पृष्ठ-साम सप्तदशस्तोम से गाए जाते हैं।

समूढ और व्यूढ स्वरूप द्वादशाह के अन्तर्गत आने वाले पृष्ठह षडह के 6 दिनों तथा अहीन प्रकृति वाले पृष्ठह-षउह याग के बृहद्रथन्तर स्वरूप वाले सामगान होते हैं। द्वादशाह में प्रथम दिवस प्रायणीय तथा अन्तिम दिन उदयनीय की संज्ञा वाला होता है। मध्य के 10 दिन दशरात्र के नाम से जाने जाते है। इनमें प्रथम 6 दिन पृष्ठह षउह तथा अन्तिम 4 दिन छन्दोम संस्था वाले होते है। दशरात्रों का अन्तिम दिन अविवाक् नाम से कहा जाता है इस दिन वाणी का व्यवहार नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण याग मौन अवस्था में संपादन किया जाता है।

यहां हम केवल पृष्ठह षडह के सामगान संबन्धित विचार ही करेंगे। बृहत् और रथन्तर साम की महत्ता को कहते है। अन्य वैरूप, वैराज, शाक्वर, रैवत सामों की बृहत् और रथन्तर के सम्बन्ध के कारण परोक्षता होती है। जब दशरात्रों में इन वैरूपादि का स्थान होता है जब बृहत् और रथन्तर परोक्ष हो जाते है, या हट जाते

---

1. शोध-छात्र, वेदविभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार। मो० 9997835612 (Email-sandeeparya.gkv@gmail.com@gmail.com)

2. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। युजुर्वेद 40.2

है, यदि कोई ऐसा कहे तो उचित नहीं। क्योंकि यहां जो बृहत् और रथन्तर का गौण भाव कहा है उसे अब स्पष्ट करते है-जो वैरूप है वह रथन्तर ही है।[1] तथा यह वैराज भी बृहत् ही है।[2] परोक्ष कहा जाने वाला शाक्वर भी रथन्तर ही है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण में वैरूप, शाक्वर को रथन्तर का तथा वैराज, रैवत को बृहत् का पुत्र कहा गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण[4] के अनुसार बृहत् पूर्ववर्ति तथा रथन्तर उत्तरवर्ति है। ये दोनों मन और वाणी के समान है। वाणी रथन्तर और बृहत् मन के स्वरूप वाला है। सर्वप्रथम रथन्तर से गर्भधारण किया और वैरूप को उत्पन्न किया। अब वे दो हो गए। इसके उपरान्त बृहत् ने गर्भधारण किया और उसने वैराज को उत्पन्न किया। अब ये भी दो हो गए। रथन्तर ने पुनः गर्भधारण किया और शाक्वर को उत्पन्न किया। बृहत् ने भी पुनःगर्भ धारण किया और रैवत को उत्पन्न किया।

यहां एक तालिका से इन सामगानो के स्वरूप को दर्शाते है-

जनिता	**शरीरस्थ-स्थान**	**प्रथम गर्भज पुत्र**	**द्वितीय गर्भज पुत्र**
रथन्तर	वाक्	वैरूप	शाक्वर
बृहत्	मन	वैराज	रैवत

इस प्रकार ये 6 हो गए। व्यूढ-द्वादशाह में पृष्ठह षडह के क्रमानुसार रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्वर, तथा रैवत साम होते है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पिता स्वयं पुत्र रूप में उत्पन्न होकर प्रसिद्ध होता है।[5] अतः ये सभी परोक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष ही है।

पृष्ठह षडह के माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र में ज्योतिस्वरूप रथन्तरादि साम का गान किया जाता है। इन रथन्तरादि का माध्यन्दिन तथा आर्भव पवमान में गायन होने से ये माध्यन्दिन पवमान स्तोत्र भी ज्योति वाले हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष दिखाई देने

---

1. रथन्तरमेतत् परोक्षं यद्वैरूपम्। ताण्ड्य ब्राह्मण 12.2.9
2. बृहत् हि एतत् यद्वैराजम्। ताण्ड्य ब्राह्मण 12.8.4
3. रथन्तरमेतत् परोक्षं यद्शाक्वर्य। ताण्ड्य ब्राह्मण 13.2.10
4. बृहच्च वा इदमग्रे रथन्तरं चास्ताम्। वाक् च वै तन्मनश्चास्ताम्। वाग्वै रथन्तरं। मनो बृहत्। तत् बृहत्पूर्वं ससृजमानं रथन्तरमत्यमन्यत। तद्रथन्तरं गर्भमधत्त। तद्वैरूपमसृजत। ते द्वे भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च बृहदत्यन्येताम्। तद् बृहत् गर्भमधत्त। तद्वैराजमसृजत। ते द्वे भूत्वा बृहत् च वैराजं च। रथन्तरं चात्यमन्येताम्। तद्रथन्तरं गर्भमधत्त। तच्छाक्वरमसृजत। तानि त्रिणि भूत्वा रथन्तरं च वैरूपं च शाक्वरं च। बृहत् च वैराजं च चात्यमन्येताम्। तद् बृहत् गर्भमधत्त। तद् रैवतमसृजत। तानि त्रीण्यन्यानि त्रीण्यन्यानि षट् पृष्ठान्यासन्। ऐतरेय ब्राह्मण 4.28
5. आत्मा वै पुत्र नामासि। शतपथ ब्राह्मण 14.9.4.26

वाली पृथिवी ही ज्योति है।[1] इस पृथिवी के अन्नादि तथा सुवर्णादि रत्नों से ही जीवन प्रकाशित होता है। यही इसका ज्योतिस्वरूप है। अतः यही (पृथिवी) रथन्तर है।[2] इस प्रकार यह रथन्तर नाम वाला साम भी ज्योतिस्वरूप वाला हो जाता है। स्वर्ग निश्चय ही ज्योति वाले लोक का नाम है।[3] स्वर्ग ही ये ज्योतिस्वरूप लोक है तथा यह स्वर्ग ही बृहत् अर्थात् श्रेष्ठ स्थान वाला है।[4] यहां स्वर्ग और बृहत् में भेद न होने के कारण स्वर्गलोकरूप यह बृहत् भी ज्योतिस्वरूप वाला समझना चाहिए। इसी प्रकार सन्तति प्रवाह हेतु से पुत्र रूप वैरूपादि सभी का ज्योतिस्वरूप स्वीकार किया जाना चाहिए।

रथन्तर और बृहत् का अस् और हस् स्वरूप भी होता है। क्योंकि सामगान के समय इन दोनों सामों का "अह" पद से निधन किया जाता है। अह शब्द रात-दिन का बोधक है। रात में चन्द्रमा ज्योति तथा दिन में सूर्य ज्योति होती है। यहा प्रकरण से अह्नः पद अर्चिः आदि मार्गों के अन्तर्गत् होने से अर्थात् सूर्य की रश्मियां देवों के गमनागमन का मार्ग है। इस भाव से रथन्तर और बृहत् ज्योति स्वरूप वाले हो जाते हैं। वैरूप साम में दिशं विशं हस् की भांति हैं। वैराज में सामगान के अन्तर्गत हा, उ पद ज्योति को धारण करते हैं। शाक्वरी सामों का बृहत् की अपेक्षा परम ज्योतिस्वरूप कहा ही गया है। "रेवतीर्णः-(सा० 1084-86)" इन ऋचाओं में गो स्वरूप होने से **गौःवै ज्योतिः** से इसका भी ज्योति स्वरूप जानन चाहिए। **ओजो वै वीर्यं पृष्ठानिति** ऐसा सर्व इष्टि प्रकरण में पढ़ा ही गया है।

इन्द्र ही रथन्तर का स्वरूप है। जो रथन्तर के लिए निर्वाप करता है, वह इस अग्नि के तेज को प्राप्त कर लेता है। जो बृहत् के लिए निर्वाप करता है वह उस इन्द्र के तेज को प्राप्त कर लेता है। जो इन्द्र स्वरूप वैरूप के लिए निर्वाप करता है वह सविता के तेज को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार वैराज से धातुओ के तेज को, शाक्वर से मरुत के तेज को, रैवत से बृहस्पति के तेज को प्राप्त कर लेता है।[5]

"ब्रह्म वै रथन्तरम्"[6] तथा **"ब्रह्मवर्चसं वै रथन्तरम्"**[7] इन ब्राह्मण के वचनों

1. अयं वै लोको ज्योतिः। ऐतरेय ब्राह्मण 4.15
2. इयं वै रथन्तरम्। ताण्ड्य ब्राह्मण 16.10.8
3. स्वर्गो वै लोक ज्योतिः। तैतिरीय ब्राह्मण 1.2.2.2
4. असौ वै बृहत्। तैत्तिरीय संहिता 7.1.4.3
5. यदिन्द्राय रथन्तराय निर्वपति यदेवाग्नेतेजस्तदेववरुन्धे। यदिन्द्राय बार्हताय निर्वपति यदेवेन्द्रस्यतेजस्तदेववरुन्धे। यदिन्द्राय वैरूपाय निर्वपति यदेवा सवितुस्तेजस्तदेववरुन्धे। यदिन्द्राय वैराजाय निर्वपति यदेव धातुस्तेजस्तदेववरुन्धे। यदिन्द्राय शाक्वराय निर्वपति यदेव मरुतां तेजस्तदेववरुन्धे। यदिन्द्राय रैवताय निर्वपति यदेव बृहस्पतेः तेजस्तदेववरुन्धे॥ तैत्तिरीय संहिता 2.3.7.2-3
6. ताण्ड्य ब्राह्मण 11.4.6
7. तैत्तिरीय ब्राह्मण 2.7.1.1

से रथन्तर ब्रह्म है तथा वही ब्रह्म ज्योति है। वही पत्नियों में गर्भ के समान है। इसीलिए ब्राह्मण रथन्तर साम को ज्योति वाला कहता है। परम ज्योति को प्राप्त होकर मनुष्य स्वयं के रूप से सम्पन्न होता है।[1] ईश्वर ही परम ज्योति स्वरूप है।[2] **"ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्मेति तद् ब्रह्म तदाप आपो ज्योती रसः"**[3] अर्थात् जलों की भांति सर्वत्र व्याप्त वह ईश्वर आनन्दस्वरूप अमृत के कारण ज्योति वाला जाना जाता है। शुक्र (वीर्य) के द्वारा ही ज्योतिस्वरूप आत्मा गर्भ में प्रवेश करती है।[4] और जो इस द्युलोक से भी परे ज्योतिरूप में वह ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है तथा इस मनुष्य के शरीर में भी आत्मा और ब्रह्म ज्योति रूप में विद्यमान है।[5] **"भात्यग्नि भाति चन्द्रमा भाति सूर्य भाति ज्योतींषि भाति रथन्तरमिति भकाराणामेंव दीप्तिं दर्शयति"**[6] यहां भी भाति पद ज्योति रूप को ही कहता है। इस प्रकार से रथन्तर साम का ज्योति स्वरूप जाना जाता है।

अब बृहत् साम के ज्योतिस्वरूप को कहते है। **बृहत्साम तथा साम्नाम्**[7] सामों में बृहत् साम श्रैष्ठ है। **मनो वै बृहत्।**[8] **मन एव प्रजापति।**[9] **मनो ब्रह्म।**[10] उसी मन रूपी ब्रह्म की उपासना करो।[11] वह शरीर से यजन कर्म करता है और शरीर मन वाला है।[12] इन मन रूपी ज्योति से ही याग के द्रव्य आज्य (पीघला हुआ ऊष्ण घृत) को देखता है।[13] मन से भी परम ज्योतिस्वरूप यह बृहत् साम है। **महस्तवानो अद्रिवः** (सा. 810) यह साम ऋचा व्यूढ़-द्वादशाह याग में दशरात्रों के दूसरे के माध्यन्दिन सवन में होता के षष्ठ स्तोत्र की तृच में पढ़ी गई है। जिस पर बृहत् साम गाया जाता है। इस ऋचा में **मह** पद होने कारण यह बृहत् साम ज्योतिरूप वाला है ऐसा जाना जाता है। मन में **महः** व्याहृति ओम् (ईश्वर) के लिये आत्मा को संयुक्त

1. परम् ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते। छान्दोग्योपनिषद् 8.3.4
2. नारायणः परो ज्योतिः। महानारायण उपनिषद् 11.4
3. महानारायण उपनिषद 15.2
4. शुक्रेण ज्योतिंषी समनुप्रविष्टः। महानारायण उपनिषद् 1.1
5. अथः यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते। इदं वाव तद्यदिदमस्मिन्न् अन्तः पुरुषे ज्योतिः। छान्दोग्योपनिषद् 3.13.7
6. संहितोपनिषद् ब्राह्मण 2.22
7. श्रीमद्भगवद् गीता 10.35
8. जैमिनिय ब्राह्मण 3.12
9. जैमिनिय ब्राह्मण 2.70
10. बृहदारण्यक उपनिषद् 4.1.6
11. मनो ब्रह्मेति उपासीत। छान्दोग्योपनिषद् 3.18.1
12. स क्रतुं कुर्वीत। मनोमयः शरीरः। छान्दोग्योपनिषद् 3.14.1-2
13. मनो ज्योतिः जुषतामाज्यम्। आश्वलायन श्रौतसूत्र 2.5.14

करता है।[1] तथा **ओं महः** इस व्याहृति से छांदोग्योपनिषद् में मह तथा ओज की उपासना समान रूप में ही की गई है।[2] इस प्रकार **महः** की ज्योति रूप अवस्था का **"त्वामिद्धि हवामहे (सा. 809-810)"** तृच में दर्शन होने से यह तृच ज्योतिरूप ही है। अग्निष्टोम सोमयाग के माध्यन्दिन सवन के बृहत् साम पक्ष में **होता-पृष्ठ स्तोत्र** के बृहत् साम के लिए इस तृच का विनियिग किया गया है।

ऐतरेय ब्राह्मण में वाणी का स्वरूप ब्रह्म तथा सुब्रह्म कहकर दर्शाया गया है।[3] तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाणी ही प्रजापति का रूप है।[4] अतः वाणी के इस रूप से वैरूप साम का ब्रह्मत्व समझा जा सकता है। **सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य**[5] इस ऋचा से सूर्यरूप वाला होने से **वैरूप साम** का ज्योतिस्वरूप सिद्ध हो जाता है।

अब वैराज साम के संबंध में कहते है-**प्रजापति वैराजम्**[6] तथा **ब्रह्म वै प्रजापतिः**[7]**। इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व-(सा.927)** यह मन्त्रांश **पिबा सोम-(सा. 927-29)** सामतृच का है। यह तृच व्यूढ़-द्वादशाह में पृष्ठह-षडह के चतुर्थदिवस के माध्यन्दिन सवन के होता-पृष्ठ स्तोत्र के महावैराज साम के रूप में विनियोग की गई है। इस प्रकार वैराज साम इस विराट छन्द की तृच से सम्पन्न होने से विराटसंपत्ति वाला हो जाता है। यही इसका ब्रह्मरूप है। अतः छन्द की इस श्रुति से विराज साम का ज्योतिरूप सिद्ध हो जाता है।

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ साम.-388॥

उस महान् ऐश्वर्यवान् इन्द्र का याग छन्द और ऋचा से बृहत् साम में होने से वह इन्द्र माना ब्रह्म ही है। इसीलिए इस इन्द्र को ऐश्वर्य की कामना वाला देखता है।[8] इस इन्द्र का महान् पद है। "प्रतर्दन विद्या (जिससे प्राणों का संचलन होता है) में उसे वाणी से नहीं कहा जा सकता है। यही तो अध्यात्म के सम्बन्ध में उस इन्द्र का भूमत्त्व है। इन्द्र का जो शास्त्र में उल्लेख दिखाई देता है वह तो वामदेव ऋषि के वचन के समान है। जैसे शरीर में प्राणों के संचलन से जीव (आत्मा) का उपदेश

---

1. ब्रह्मणि ब्रह्मने त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीत। महानारायण उपनिषद् 24.2
2. ओजश्चेति महश्चेत्युपासीत। छान्दोग्योपनिषद् 3.13.5
3. वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म च। ऐ० ब्र० 6.3
4. प्रजापतिर्हि वाक्। तैतिरीय ब्राह्मण 1.3.4.5
5. सामवेद-ऋचा सं. 1831
6. ताण्ड्य ब्राह्मण 16.4.17
7. मशक ब्राह्मण 13.6.2.8
8. तस्मात्.....इदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। ऐतयेर ब्राह्मण 2.4.3

होता है। वैसे ही समीपथ्य लक्षणों से ही उसे जानकर कह दिया जाता है।"[1]

अब महानाम्नि ऋचाओं के संबन्ध में कहते है-इन्द्र देवता की इन ऋचाओं में प्रजापति, विष्णु और विश्वमित्र का सिमा, मड्या और अध्वरमा के साथ तथा शाक्वर्य का शाक्वर्य के साथ सम्बन्ध है।[2] इन्द्र ज्योतिरूप है जो ज्योत वाला है वह इन्द्र है।[3] यह इन्द्र भुव नाम से ज्योति स्वरूप वाला है।[4] महानाम्नि ऋचाओं (साम. -642, 645, 648) में स्वर्णांशुर, अशुनशोचि:, अंशुर्मदाय पदों से इन्द्र का ज्योति स्वरूप ही सिद्ध होता है।

आपो वै रैवत्य:।[5] जलों में जो रस है वही रेवाति है।[6] ऋग्वेद में भी कहा है कि यह जल रेवतियों से ही वसुओं को प्राप्त हुआ।[7] इसलिए महानारायण उपनिषद् में कहा गया है कि "यह जल ही ब्रह्म के रूप में दिखाई देता है। सब कुछ मानो यह जल ही है। यही विराट रूप इन जलों का है। ये जल अमृत स्वरूप ही है।"[8] जलों में ज्योति प्रतिष्ठित है।[9] तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार इस सृष्टि में हिरण्यज्योत विद्यमान् है।[10] इस प्रकार रेवति साम का भी श्रुति वचनों से ज्योति स्वरूप सिद्ध होता है। यहां हमने पृष्ठ स्तोत्रों के सामगानों का ज्योति रूप सिद्ध किया है। याग में पृष्ठ स्तोत्र मनुष्य शरीर के पृष्ठ भाग के समान है। सार मात्र यही है कि याग में ये पृश्ठ साम अपना विशेष स्थान रखते है। इन सामों के द्वारा ही इष्ट फल की सिद्धि होती है। ये ही याग करने वाले की मनोकामना को पूरा करते है।

✦✦✦

---

1. प्राणस्तथानुगमात् 28। व वक्तुरात्मोपदेशादितिचेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् 29। शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् 30। जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् 31। ब्रह्मसूत्र 1.1.28-31
2. ऐन्द्रयो महानाम्ना प्रजापतेर्वा विष्णोर्वा विश्वमित्रस्य वा सिमा वा मड्या वा अध्वरमा वा शाक्वर्यो वा शाक्वर्यो वा। आर्षेय ब्राह्मण 6.4.2.15
3. इन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्र:। सामवेद ऋचा सं० 1831
4. इन्द्रो ज्योतिर्भुवोज्योतिरिन्द्रोम्। आश्वलायन श्रौतसूत्र 5.9.11
5. ताण्ड्य ब्राह्मण 7.9.20
6. अपां वा एष रसो यद्रेवत्य:। ताण्ड्य ब्राह्मण 13.10.5
7. आपो रवती: क्षयथा हि वस्व:। ऋ. 10.30.12
8. आपो वै ब्रह्मेत्याचक्षते। आपो वा इदं सर्वम्। विराडाप:। अमृतं वा आप:। महा० उपनिषद् 14.1
9. अप्सु ज्योति: प्रतिष्ठितं ज्योतिष्याप: प्रतिष्ठिता:। तैत्तिरीय उपनिषद् 3.8.1
10. हिरण्यज्योति: सरिरस्य (सृष्टे:) मध्ये। तै० आ० 3.8.11

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (96-98) July-December 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक वाङ्मय में नारी का पत्नी स्वरूप

कामनी शर्मा

शोधच्छात्रा

संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

ऋग्वेद काल में नारी की अवस्था विकसित एवं उन्नत थी, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नारी समान रूप से समाहित थी। इस कारण इसमें पत्नी को 'गृह' अथवा 'घर' शब्दों से सम्बोधित किया गया है। पाति रक्षति इति पत्नी/पा धातु से निष्पन्न रूप में ङीप और नुक् आगम लगाने से 'पत्नी' शब्द बनता है और वह सहधर्मिणी का बोधक है 'पत्नी' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है।[1] **"पत्नीनां सयनम्"** का उल्लेख अथर्वसंहिता में भी हुआ है 'पत्युः यज्ञ संयोगे' अर्थात् यज्ञ में पति के साथ जिसको बैठने का अधिकार प्राप्त था, वह पत्नी कहलाती थी। पतिशब्द से **'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे'** सूत्र से ङीप् नकारागम होने पर 'पत्नी' शब्द बनता है।[2] ऋग्वेद ने पत्नी को पारिवारिक जीवन का स्रोत माना है।[3] भगवान इन्द्र का जीवन इसलिए सुखमय माना गया है कि उनकी पत्नी में स्नेह और प्रेम भरा हुआ था। इन्द्र के संदर्भ में यह भी तथ्य सामने आया है कि गृह ही उनके मनोरंजन का साधन था जो उन्हें अर्द्धांगिनी से मिला था।[4] उन्हें पत्नी से मात्र प्रेम ही नहीं मिलता था बल्कि पत्नी उनकी आज्ञा का पालन करती थी और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी करती थी।[5] पत्नी अपने को सजाती-सँवारती और रंग-बिरंगे परिधानों में सज्जित होकर पति को प्रसन्न एवं वशीभूत करती थी। ऋग्वेद में पत्नी को आभूषण भी माना गया है आज भी समाज में कहा जाता है कि पत्नी ही घर की रौनक है।[6]

विवाह काल में कन्यादान-पाणिग्रहण के बाद लाजाहोम में कन्या अपने लिये अपने मुख से 'नारी' शब्द का सबसे पहले प्रयोग करती है।[7] क्योंकि इससे पहले

1. ऋक् संहिता 10/85/39
2. अथर्वसंहिता 9/3/7
3. ऋग्वेद 3/53/4
4. ऋग्वेद 3/53/6
5. ऋग्वेद 1/122/2
6. ऋग्वेद 1/66/3
7. अथर्ववेद 14/2/63

उसका नर-संबंध नहीं रहा है। 'नारीत्व' को प्राप्त करते ही वह दो प्रधान आदर्श अपने सामने अपने ही वचन में जीवन के लिये रखती है- (1) **"आयुष्मानस्तु मे पतिः।"** (2) **"एधन्तां ज्ञातयो मम।"** मेरा पति पूर्ण आयुसम्पन्न हो और मेरी जाति (समाज) की अभिवृद्धि हो। नारी होने के बाद ही उसे 'सौभाग्य' की प्राप्ति होती है। सौभाग्य का प्रधान अर्थ पति की नीरोग स्थिति है। ऋग्वेद से यह भी ज्ञात होता है कि कभी-कभी नारी अपने पति के साथ रणक्षेत्र में जाती थी और युद्ध में भाग लेती थी। विश्पला इसका एक ज्वलंत उदाहरण है वह राजा के खेल की महारानी थी और उसने अपना पैर युद्ध में खो दिया था और कालान्तर में लोहे का पैर लगा लिया ऐसा उसने अश्विनौ की कृपा से किया था।[1] मुद्गलानी मुद्गल की पत्नी थी।[2] उसने अपने पति की सहायता से डाकुओं से गाय को छुड़ाया था। उसने तीर और धनुष से डाकुओं को पराजित किया[3] और पति की रक्षा भी की थी। ऋग्वैदिक समाज में नारी का स्थान साधारणतः उन्नत और सम्मानित था। पति की आज्ञाकारिणी होते हुए भी उसे परिवार में सम्मान मिलता था।[4] नवविवाहित वधु को परिवार में बड़ा सम्मानित किया जाता था क्योंकि वह भविष्य में गृहस्वामिनी बनती थी और मातृदेवी के रूप में कुछ महिलाओं की आराधना भी की जाती थी।[5]

शतपथ ब्राह्मण[6] में तो स्पष्ट बताया गया है कि नारी के बिना पुरुष अपूर्ण एवं अधूरा है। मनु ने तो स्पष्ट कहा है कि अकेले पुरुष का कोई अस्तित्व नहीं है। वह अधूरा है। स्त्री स्नेह और सन्तान इन तीनों को मिलाकर ही पुरुष पूर्ण होता है।[7] वस्तुतः स्त्री और पुरुष दोनों यज्ञरूपी रथ के जुड़े हुए दो पहिए है।[8] वेदों में पति की सेवा के लिए नारी के लिए कहीं भी कोई कर्तव्य सूची नहीं बनाई गई है; क्योंकि उस समय नर-नारी का समागम दो समान शक्तियों का सम्मेलन माना जाता था। पुरुष सम (पौजिटिव) शक्ति का प्रतीक था, तो नारी विषम (निगेटिव) शक्ति मानी जाती थी। एक के बिना दूसरा असहाय एवं निष्क्रिय माना जाता था।

अन्तःकरण की प्रवृत्तियों के अनुसार बुद्धि का अंश सम (पौजिटिव) एवं मन का अंश विषम (निगेटिव) मानते हुए शरीर को भी दो भागों में विभाजित करते हुए

1. अथर्ववेद 14/2/38
2. ऋग्वेद 1/118/10
3. ऋग्वेद 10/102
4. ऋग्वेद 10/13/11
5. ऋग्वेद 3/55/16
6. शतपथ ब्राह्मण 5/2/1/10; मनु 9/45
7. महाभारत, आदि पर्व 74/40
8. तैत्तिरीय ब्राह्मण 3/75

दाहिना भाग पुरुष का और वाम-भाग नारी का माना गया है। वैदिक काल में सूर्य-शक्ति और चन्द्र-शक्ति के प्रतीक नर-नारी सृष्टि के उत्पादन, संचालन आदि में समान अधिकार रखते थे। साहस, उद्यम आदि साहसिक कार्यों में यदि पुरुष की श्रेष्ठता थी, तो धैर्य, सहनशीलता, त्याग एवं समर्पण भाव में नारी अद्वितीय मानी जाती थी। पति-पत्नी के रूप में स्थापित यह सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों शरीरों के साथ आत्मा का माना गया है, जिसके फलस्वरूप नारी अपनी भोगस्पृहा को अन्य सभी स्थानों से हटाकर सर्वात्मना अपने पति में ही केन्द्रीभूत करती थी। गृहपत्नी के रूप में नारी अपना सार्वजनिक जीवन आरंभ करती थी। अपने सेवाभाव के कारण ही नारी उस समय 'घर' कहलाती थी।[1] गृहस्थाश्रम में प्रवेश के समय नर-नारी को शुभ आशीर्वचनों के माध्यम से कर्तव्य पथ पर आरूढ़ रहकर घर को आदर्श बनाने को कहा जाता था।[2]

वैवाहिक संबंध नर-नारी दोनों में परिवर्तन लाता है, परंतु यह परिवर्तन उस समय नारी के जीवन को अधिक प्रभावित करता था। नारी विवाह के बाद अपने पितृ-गोत्र एवं जाति को छोड़कर अपने पति के गोत्र एवं जाति में अपने को आज भी ढालती है। गृहस्थी का संपूर्ण कार्य कलाप, अग्नि में ईंधन डाल कर उसे प्रज्ज्वलित करना, गो-दोहन, दही-विलोड़न, भोजन पकाना, वस्त्र धोना आदि सभी कार्यों की उस समय नारी संचालिका, सम्पादिका एवं अधीक्षिका मानी जाती थी। यही कारण है कि वैदिक काल में पुरुष अपनी पत्नी का पाणि-ग्रहण करते समय अपने को सौभाग्यशाली मानता था।[3]

संक्षिप्तत: कहा जा सकता है कि वैदिककाल में पत्नी के बिना गृह की कल्पना व्यर्थ मानी गई है और पति के जीवन में पत्नी का स्थान बहुत अधिक महत्व रखता है। पत्नी के लिए पति सेवा ही उसका सर्वोपरि धर्म है।

✦✦✦

1. जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु। 3/53/4
2. इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। ऋग्वेद 10/75/42
3. गृभ्णाभि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथास:।
   भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवा:।। ऋग्वेद 10.85.36

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (99-105) July-December 2018 ISSN 2277-4351

वैदिक वाङ्मय में ज्योतिष का स्वरूप

नीरज कुमार

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग

कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल

आधुनिक काल नि:सन्देह विज्ञान का उत्कर्ष काल है। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल में हमेशा मनुष्य ज्योतिष के प्रति उन्मुख होता आया है। वेदों के षड्अङ्गों में ज्योतिषशास्त्र का अन्यतम स्थान है। वेदाङ्गों से वेदों के अर्थ को समझा जाता है ये वेदों के स्वरूप के रक्षक हैं। वेदों को पुरुष रूप में, वेदाङ्गों को उसके अङ्गों के रूप में माना गया है-

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां च यः।
ज्योतिषमयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु।

वैदिक वाङ्मय में ज्योतिष को खगोल संबंधी परिज्ञान के लिए, आकाशीय ग्रह नक्षत्रों के सिद्धांत, यज्ञों के सम्पादन हेतु शुभ मुहूर्तों, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि व भूत, भविष्य, वर्तमान संबंधी घटनाओं के लिए जाना जाता है-

भूतं भव्यं भविष्यत् च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति॥[1]

यद्यपि ज्योतिष वेद का अभिन्न अङ्ग माना गया है। वेदों के अन्तर्गत यजुर्वेद में ज्योतिषी के लिये 'नक्षत्रदर्श' शब्द का प्रयोग पहली बार हुआ, यह कहा गया है कि विशेष ज्ञान के लिये नक्षत्रदर्श के पास जाओ- प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शं॥[2] इससे यह सहज में ही अनुमानित हो जाता है कि ज्योतिष के विशेषज्ञ वैदिक काल में दूसरे विद्वान् से पृथक् विशिष्ट श्रेणी के विद्वान् माने जाते थे। इसी प्रकार 'वाचस्पत्यम्' के अनुसार सूर्यादि ग्रहों की गति को जानने वाले तथा ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन करने वाले व्यक्ति ज्योतिर्विद् कहा गया है।[3] वाजसनेयी संहिता में ज्योतिषी के लिए गणक शब्द का प्रयोग हुआ है- ग्रामण्यं गणकम्॥[4] वैदिक गणित के विशिष्ट ज्ञाता को

1. मनुस्मृति अ० 12/97
2. यजुर्वेद संहिता 30/10
3. वाचस्पत्यम् भा० 4
4. वाजसनेयी संहिता 30/20

'गणक' कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में वैदिक ऋषियों ने मानव जीवन पर पड़ने वाले ग्रह नक्षत्र जन्य प्रभाव को स्वीकार किया है। तथा ग्रह नक्षत्रों के कुप्रभाव से बचने के लिए मानव कल्याण हेतु समय-समय पर प्रार्थनायें भी की हैं। वैदिक वाङ्मय में सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, शुक्र इत्यादि ग्रहों के साथ-साथ राहु, केतु, धूमकेतु एवं पृथ्वी के बारे में अनेक रहस्यमय जानकारियां उपलब्ध हैं। वैदिक ऋषि कहते हैं कि पृथ्वी और अन्तरिक्ष के उत्पात और द्युलोक के ग्रह हमारे लिये कल्याणकारी हो जायें- **उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः।।**[1] नवग्रहों में सूर्य-चन्द्रमा का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थानों में हुआ है। ज्योतिषशास्त्र में सूर्य को काल की आत्मा माना है। वह जंगम और स्थावर सभी की आत्मा है।[2] छान्दोग्योपनिषद् में सूर्य को मधुर अमृत का छत्ता बताया गया है। आदित्य की पूर्व दिशा वाली किरणें उसके पूर्व की मधु नाड़ियाँ हैं, ऋग्वेद रूपी भ्रमर हैं, आप (जल) ही अमृत है। उनसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नादि रसों की उत्पत्ति होती है। यह आदित्य का रोहित रूप है।

आदित्यो देव मधु तस्य द्यौरेव
तिरश्चीनवंशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः।

तस्य ये प्रांचो रश्मयस्ता एवास्य
प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव

मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः
एतदृग्वेदमभ्य तपं तस्याभितप्तस्य
यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं
रसोऽजायत।.... एतत् रोहितं रूपम्।।[3]

सूर्य, समय निर्माता के रूप में 360 दिन का वर्ष बनाते हैं जो कि वैदिक जीवन का सामान्य संवत्सर है। यह दिनों की गणना और उनका संवर्द्धन भी करता है।

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।
सोम राजन् प्रण आयूँषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि।।[4]

ऋग्वेद में सूर्य ग्रहण के बारे में अनेक संदर्भ मिलते हैं। कहा गया है कि 'स्वर्भानु' ने अंधकार द्वारा सूर्य को ग्रस लिया, अत्रि ने फिर सूर्य को बाहर निकाला-

1. अथर्ववेद 19/9/7
2. ऋग्वेद 1/115/1
3. छान्दोग्योपनिषद् अ० 3, खण्ड-2
4. ऋग्वेद 8/48/7

यं वै सूर्यं स्वर्भानु स्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यन्ये अशक्नुवन्।।[1]

अथर्ववेद में सूर्य ग्रहण के अनेक प्रसङ्ग आते हैं।[2] वैदिक काल में सूर्य संक्रातियों (बारह राशियों) का स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार मिलता है–

द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य।।[3]

इन बारह परिधियों (12 सूर्य संक्रांति) एक चक्र (वर्ष) और तीन नाभि (तीन ऋतु) इन्हें कौन जानता है? उस चक्र (वर्ष) में शंकु की तरह 360 चंचल और (दिन) लगाए हुए हैं।–

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताःषष्टिर्न चलाचलासः।।[4]

यह सूर्य अयनों का भी प्रतिनिधित्व करता है–

तस्मादादित्यः षण्मासो दक्षिणेनौति षडुत्तरेण।।[5]
कालात्म दिनकृन्मनश्च हिमगुः।।[6]

वैदिक ऋषियों ने चिन्तन करते हुए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है–

स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति
मन्यन्तेहवह्यएव तदन्तमित्वाथात्मानं विषयस्यते रात्रिमेवा
वस्तात् कुरूतेह परस्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीत मन्यते।
रात्रैव तदन्तमित्वायात्मानं विषर्यस्ते हरेवायस्तात्
कुरुते रात्रिं परस्तात स वा एष न कदाचन निम्नोचति।।[7]

अर्थात् सूर्य को कभी भी अस्त न होने वाला कहा है। यह सूर्य अपने प्रकाश से चन्द्रमा को तेजस्वी करता है–

यमादित्य अ (द्युं) शुभाप्यायन्ति।।[8]

---

1. ऋग्वेद 5/40/9
2. अथर्ववेद 19/9–10, 13/2–4
3. ऋग्वेद 1/164/11
4. ऋग्वेद 1/164/48
5. तैत्तिरीयसंहिता 6/5/3
6. बृहत्जातकम् 2/1
7. ऐतरेय ब्राह्मण 14/6
8. तैत्तिरीयसंहिता

इन बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि चराचर की आत्मा प्राणियों का उत्पादक, पालक, संहारक सम्पूर्ण भुवनों का आधार सूर्य ही है। सूर्य तिथि, मास, ऋतु, अयन, सम्वत्सर युग, कल्प आदि का कारक है, किन्तु यह सूर्य अकेले ही इन सबका निर्माण नहीं करता अपितु इसमें वह एक अन्य पदार्थ का आश्रय लेता है वह है चन्द्रमा, वेदों में ऋतु का उत्पादक चन्द्रमा को भी कहा गया है।-

पूर्वापरं चरतो मायथैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूंरन्यो विदधज्जायते पुनः॥[1]

अर्थात् ये दोनों अपनी शक्तियों से बालकों की तरह खेलते हुए आगे-पीछे विचरते हैं और यज्ञ में आते हैं। इनमें एक अर्थात् सूर्य सब लोकों को प्रकाशित करता है। और चन्द्रमा ऋतुओं को उत्पन्न करता हुआ पुनः-पुनः पैदा होता है। इससे सिद्ध होता है कि सूर्य और चन्द्रमा दोनों राजा हैं। बृहज्जातकम् में कहा भी है- ''राजानौ रवि शीतगू'' चन्द्रमा को वैदिक साहित्य में सोम, चन्द्रमा, मास, विधु, अमृत किरण, हीमदीधित, चन्द्र आदि नामों से अभिहित किया गया है। इसे वेदों में मन भी कहा गया है-

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत॥[2]

ज्योतिष में भी चन्द्रमा को वराहमिहिर ने मन का कारक ग्रह माना है- मनश्च हिमगुः[3] तैत्तरीय ब्राह्मण में चन्द्रमा को 'पंचदश' भी कहा है। क्योंकि यह पन्द्रह दिन में क्षीण होता है और पन्द्रह दिन में पूरा होता है।-

चन्द्रमा वै पंचदशः।
एष हि पंचदश्याम् क्षीयते।
पंचदश्यामापूर्यते॥[4]

यह चन्द्रमा जिस नक्षत्र मण्डल के सीध में रहता है उसी नक्षत्र में उस दिन स्थित मान लिया जाता है। इसलिए तैत्तिरीय संहिता में ''नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमसि श्रितानि'' कहा गया है। चन्द्रमा एक स्थान से चलकर पुनः लगभग $27^{1}/_{3}$ दिनों में वहीं आ जाता है इसलिए एक नक्षत्र मास 27 दिन 11 घटी का माना जाता है, तथा नक्षत्र मास 27 अथवा 28 माने गये हैं। सूर्य मार्ग और चन्द्र मार्ग (क्रान्ति वृत्त) में लगभग सवा पाँच अंश का कोण बनता है। इसी क्रान्ति वृत्त से ग्रह तारे की दूरी को ज्योतिष में शर कहा गया है। जिसे तारे का शर सवा पाँच अंश से कम होता है उसे

1. ऋग्वेद 10/85/18
2. यजुर्वेद 31/12
3. बृहज्जातकम् 2/1
4. तैत्तिरीय ब्रा० 1/5/10

चन्द्रमा ढक देता है। इसी आच्छादन क्रिया को पिधान कहते हैं। यजुर्वेद में चन्द्रमा को आह्लादकारक तथा ऋग्वेद में अमृत वर्षी एवं सोम कहा है।-

शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि।।[1]
चन्द्रे ज्योते।[2]
चन्द्रमग्निं चन्द्ररथम्।[3]
यच्छन्तु चन्द्रा उपमं नो अर्कं।[4]
यास्ते प्रजा अमृतस्य परस्मिन्धामन्नृतस्य।
मूर्धा नाभा सोम वेन आभूषन्तीः सोम वेदः।।[5]

वेदों में दो ही तत्व द्वारा जगत् की स्थिति बतायी गयी है। कहा गया है कि ''अग्निषोमात्मकं जगत्''। वाक् अंश की प्रधानता के कारण सोम (चन्द्र) सही मन एवं वाणी तथा प्राण की प्रधानता के कारण अग्नि (सूर्य) नाम व्यवहृत होता है। सोम सर्वत्र व्यापक है और वह अग्नि के द्वारा आकृष्ट होता है। ऋग्वेद में कहा है। सोमेनादित्या बलिनः।।[6] अर्थात् सोम से ही आदित्य बलवान है। सूर्य एवं चन्द्रमा की अमावस्य तिथि में समसूत्र में स्थिति ही दोनों को बल प्रदान करती है।

शेष पाँच ग्रह मङ्गल आदि का उल्लेख अन्य देवता आदि के रूप में हुआ है। राहु, केतु छाया ग्रहों के रूप में मिलते हैं।-

अमी ये पञ्चोक्षणो मध्ये तस्थुर्महो दिवः।
देवत्रा नु प्रवाच्यं सध्रीचीनानि वावृतुर्वित्तं मे अस्य रोदसी।।[7]

अथर्ववेद में एक स्थान पर धूमकेतु शब्द ''शं नो मृत्युर्धूमकेतुः'' मृत्यु का विशेषण है।[8] ज्योतिष में यह एक पुच्छल तारे का नाम है। अथर्व संहिता में उलकापात रूप में मिलता है।-

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः
शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।।[9]

---

1. यजुर्वेद 4/18
2. यजुर्वेद 8/43
3. ऋग्वेद 7/39/5
4. ऋग्वेद 7/39/7
5. ऋग्वेद 1/43/9
6. ऋग्वेद 10/85/2
7. ऋग्वेद 1/105/10
8. अथर्ववेद 19/9/10
9. अथर्ववेद 19/9/9

वैदिक वाङ्मय में नक्षत्रों का वर्णन विस्तार से हुआ है। वैदिक ज्योतिष में नक्षत्रों का तारा, तारका, उडु, ऋक्ष, नभ, रोचना और स्तृ कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में ''नक्षत्राणि वै सर्वेषां देवानामायतनम्''[1] कहा गया है। अर्थात् समस्त देवताओं ग्रहों का घर नक्षत्र लोक ही है। नक्षत्र शब्द की निष्पत्ति करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं कि- ''नक्षत्रे गतिकर्मणः'' (निरुक्त) अर्थात् जिसका कभी क्षय न होता वे नक्षत्र हैं। इसी प्रसङ्ग में ऋक्ष शब्द का विवेचन भी आया है-

ऋक्षाःस्तृभिः इति नक्षत्राणाम्।
ऋक्षाः उदीर्णानि इवख्यायन्ते,
स्तृभिः तीर्णानि इव ख्यायन्ते।
अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुहचिद् दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति।।[2]

छान्दोग्योपनिषद् में विभिन्न प्रसङ्गों में नक्षत्रविद्या का उल्लेख हुआ है।-

स होवाच, ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं - सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवंनिधिं वाकोवाक्यमेकायनं।
देवविद्यां ब्रह्मविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजन विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि-[3]

यजुर्वेद में नक्षत्रों की संख्या सत्तईस है। इसका उल्लेख इस प्रकार है-

वातोवामनो वा गन्धर्वाः सप्तविंशतिः ते।
अग्रेऽश्वयुञ्जस्ते अस्मिन् जवमादधुः।।[4]

अथर्ववेद में अठाईस नक्षत्रों का उल्लेख आता है।-

अष्टाविंशनि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।।[5]

अभिजित् नक्षत्र का स्पष्ट उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में आया है।-

अभिजयत्परस्तादभिजितमवस्तात्।[6]

---

1. शत० ब्र० 14/3/2/12
2. ऋग्वेद 1/24/10
3. छान्दोग्योपनिषद्-7/1/2
4. यजुर्वेद 9/7
5. अथर्ववेद 19/8/2
6. तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/5/1

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में नक्षत्रों की संख्या अठाईस है। जिस प्रकार विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है। धन की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी है। जिस प्रकार प्रकाश का देवता सूर्य, जगत् पालनकर्ता विष्णु, मृत्यु एवं संहार का देवता रुद्र, युद्ध का देवता इन्द्र, स्वीकार कर लिया गया है। ठीक उसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र का वैदिक देवता वरुण को माना है। क्योंकि यह वरुण देवता प्रजाओं से युक्त बारह महीनों के रहस्य को जानता है, अर्थात् बारह महीनों में जन्म लेने वाले सभी प्राणियो को गणितागत स्पष्टीकरण एवं भविष्य जानता है। और जो वर्ष के साथ उत्पन्न होता है उसको भी अर्थात् अधिक मास के रहस्य को भी जानता है।

वेदमासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते॥[1]

वरुण देवता सूर्य के उदय होने के पूर्व नक्षत्रों को तेजस्वी बनाता है।-

उदसिस्त्रयाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यन्नक्षत्र मर्चिवत्।[2]

अर्थात् रात्रिकाल में प्रकाशित होने वाले चन्द्रादि नक्षत्र सूर्य के प्रकाश से चमकते हैं, इस बात के रहस्य को वैदिक ऋषि जानते थे। ये ऋतुओं के रहस्य को भी जानने वाले थे-

तिस्त्रोद्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्त्रो भूमीरुपराःषड्विधानाः।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खंहिरण्ययं शुभे कम्॥[3]

यह प्रज्ञावान वरुण, कृत (भूत) एवं क्रियमाण (भविष्य) में होने वाले सभी गुप्त कार्यों को जानता है। इसके साथ यह विश्व के सभी आश्चर्यजनक अद्भुत कार्यों को भी जानता है व देखता है।-

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वा अभि पश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा॥[4]

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध ज्योतिषीय तत्त्वों से ज्ञात होता है कि ज्योतिष, वैदिक काल से ही अपने भीतर ज्योतिषशास्त्रीय तत्त्वों को समाहित किये हुए हैं।

✦✦✦

1. ऋग्वेद 1/25/8
2. ऋग्वेद 7/82/2
3. ऋग्वेद 7/87/5
4. ऋग्वेद 1/25/11

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (106-110) July-December 2018 ISSN 2277-4351

प्रार्थना का वैदिक स्वरूप

-डॉ० सन्दीप कुमार चौहान
वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

प्रार्थना मानव जीवना का एक सहज, स्वाभाविक और आवश्यक अंग है। मनुष्य मेधावी होकर भी परिस्थितिवश और प्रकृतिवश जीवन के व्यवहार-व्यापार की समस्याओं को सुलझाने में यदा-कदा अपने को असमर्थ और अल्पज्ञ पाता है। तब वह अपने से बड़ी सत्ता के प्रति श्रद्धावनत होकर प्रार्थना करता है, जिससे उसके अन्तस्तल में प्रभु के गुणों का प्रकाश होने लगता है। वह देखता है, वह अकेला ही नहीं, उस जैसे और उससे भी अधिक ज्ञानी एवं श्रद्धेय व्यक्ति प्रभु की आराधना में निरत रह चुके हैं और अब भी रहते हैं। जो अहंकारी हैं, उनका अहंकार जब चकनाचूर हो जाता है, तो वे भी उस महाशक्ति के गुण गाने लग जाते हैं। जिस भी दिशा में भक्त की दृष्टि जाती है उस प्रत्येक दिशा में उसे अपना प्रभु, पूज्यों का भी पूज्य और बलवानों में शिरोमणि जान पड़ता है। वेद कहता है-

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनमच्युतानाम्।
मन्ये त्वा सत्त्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्॥[1]

प्रभु यज्ञियों का यज्ञिय, पूजनीयों का पूजनीय है। जिन्हें हम पूजनीय समझते हैं, वे भी उसी प्रभु की पूजा करते हैं। जो अपने को अच्युत समझे बैठे हैं, उनकी अच्युत पदवी एक दिन च्युत हो जाती है। प्रभु किसी का गर्व नहीं रखते। वे अभिमानी के गर्व को खर्व कर देते हैं। वे शक्तिशालियों में ध्वजा के समान सबसे ऊपर चमक रहे हैं। वही भक्त की कामनाओं को सफल करने वाले हैं। प्रभु का यह रूप, उनके ये गुण भक्त को बड़ा बल प्रदान करते हैं। वह आश्वस्त हो जाता है। यह विचार उसे सांत्वना देता है कि उसके साथ एक समर्थ सत्ता विद्यमान है जो उसकी प्रत्येक समय रक्षा कर रही है।

ईश्वर के गुणों पर विचार करते-करते जीव को अपनी अल्पज्ञता, दुर्बलता, न्यूनता और तज्जन्य संतापों का बोध भी होने लगता है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परिपूर्ण प्रभु के आनन्दी स्वभाव से प्रभावित होता है और अपनी न्यूनताओं तथा क्लेशों का शमन करने के लिए उससे प्रार्थना करने लगता है। समर्थ से ही प्रार्थना

1. ऋग्वेद - 8/96/4

करने में शोभा है। प्रभु समर्थ हैं, ज्ञानमय हैं। वे भक्त के अन्तस्तल को जानते हैं। भक्त अपने अन्तस्तल की जितनी गहराई के साथ प्रार्थना करता है, उतनी ही शीघ्र वह सुनी जाती है। प्रार्थना में जीव का ध्यान सर्वप्रथम अपनी न्यूनताओं पर जाता है। वह सर्व-समर्थ प्रभु को पुकार कर विनय करता है-

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥[1]

प्रभु! मेरी चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों में जो छिद्र हैं, दोष हैं, न्यनूताएँ हैं, अथवा हृदय और मन आदि अन्तःकरणों में जो गहरे घाव हैं, उन्हें आप ही दूर कर सकते हैं। आप निखिल जगत् के स्वामी हैं, बृहस्पति हैं, आप से बढ़कर मेरा अन्य कोई भी रक्षक नहीं है। प्रभो, इन दोषों को दूर करके आप ही मेरा कल्याण करें।

भक्त अपने बाह्य और आन्तरिक दोनों ही रूपों में पवित्र होना चाहता है। वह सुख भी चाहता है और शान्ति भी। उसकी कामना शरीर की सुदृढ़ता, इन्द्रियों की बलवत्ता एवं यशस्विता तथा सर्वांग की पवित्रता के सम्पादन की ओर भी जाती है और आध्यात्मिक शान्ति के सम्पादन की ओर भी। वेद के शब्दों में अभीष्टि और प्रीति, सुख और शान्ति दोनों ही उसे चाहिए। महर्षि कणाद के शब्दों में उसके अभ्युदय और निःश्रेयस, लोक और परलोक दोनों ही सिद्ध होने चाहिए।

यजुर्वेद के नीचे लिखे मंत्र में ऐसी ही भावात्मक प्रार्थना है-

शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्त्रवन्तु नः।[2]

प्रभो! आप सर्व-व्याप्त हैं, कल्याणकारी हैं। देव! हमारी अभीष्ट-सिद्धि तथा पूर्ण तृप्ति के लिए कल्याणकारी बनो। हमारे ऊपर चारों ओर से सुख और शान्ति की वर्षा करो।

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥[3]

हे अनेक भक्तों के द्वारा स्तुत प्रभो, हम तेरे ही हैं तेरा ही आश्रय लेकर यहाँ चल रहे हैं। नाथ! तेरे अतिरिक्त यहाँ अन्य कोई भी हमारी बात सुनने वाला नहीं है। एकमात्र तू ही पृथ्वी के समान धैर्य धारण किये हुए हमारी पुकार को सुनने वाला है। अतः मैं तुझे ही पुकार रहा हूँ। तू ही मुझ दीन की प्रार्थना सुन।

महर्षि दयानन्द ने प्रार्थना को स्पष्ट करने के लिए 'सत्यार्थप्रकाश' के सप्तम समुल्लास में निम्न वेद मंत्रों को उद्धृत किया है-

---

1. यजुर्वेद - 36/2
2. तदेव - 36/12
3. ऋग्वेद - 1/57/4

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा।[1]
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं
मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं
मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि।।[2]
यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।
यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।।[3]

अर्थात् हे 'अग्ने' स्व प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप स्वकृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान् और ज्ञानी और योगी लोग करते हैं- उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्तमान समय में करके बुद्धिमान् आप कीजिए। आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझ में भी प्रकाश स्थापन कीजिए। आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं, मुझ में कृपा-कटाक्ष से पूर्ण पराक्रम को धरिये। आप अनन्त बलयुक्त हैं, इसलिये मुझ में भी बल धारण कीजिए। आप अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं, मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिए। आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं, मुझको भी वैसा ही कीजिए। आप निन्दा, स्तुति और स्वअपराधियों को सहन करने वाले हैं, कृपा करके मुझको भी वैसा ही कीजिए। हे दयानिधे! आपकी कृपा से जो मेरा मन जागते में दूर-दूर जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है, और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता वा स्वप्न में दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक वह मेरा मन 'शिवसंकल्प'

---

1. यजुर्वेद - 32/14
2. तदेव - 19/9
3. यजुर्वेद - 34/1-6

अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण के संकल्प करने हारा होवे। किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे। हे सर्वान्तर्यामी! जिससे कर्म करने हारे धैर्य्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं; जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहने वाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे। जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा निश्चयात्मकवृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है; जिसके बिना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुभ गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे। हे जगदीश्वर! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिल के सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है; पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन योग-विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे। हे परमविद्वान् परमेश्वर! आप की कृपा से जिस मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं, वैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है; और जिसमें सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रज्ञा का साक्षी चित्त चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे। हे सर्वनियन्तः ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़े के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उध र डुलाता है; जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेगवाला है, वह मेरा मन सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे, ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए।

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमऽउक्तिं विधेम॥[1]

हे सुख के दाता, स्वप्रकाशस्वरूप, सबको जानने हारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये; और जो हम में कुटिल पापाचरणरूप मार्ग है, उससे पृथक् कीजिए, इसीलिए हम लोग आपकी नम्रतापूर्वक बहुत सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें। और-

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा नऽउक्षन्तमुत मा नऽउक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥[2]

हे रुद्र! दुष्टों को पाप के दुःखरूप फल को देके रुलानेवाले परमेश्वर! आप हमारे छोटे-बड़े जन, गर्भ, माता, पिता और प्रिय बन्धुवर्ग तथा शरीरों का हनन करने

1. यजुर्वेद - 40/16
2. यजुर्वेद - 16/15

के लिए प्रेरित मत कीजिए, ऐसे मार्ग से हम को चलाइये कि जिससे हम आपके दण्डनीय न हों।

इस प्रकार जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मान के प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेधमुख होने से सगुण-निर्गुण प्रार्थना। जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्तमान करना चाहिए अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करे उसके लिए जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करो। अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है। ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिए और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है जैसे- "हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी प्रतिष्ठा और मेरे ही आधीन सब हो जायें" इत्यादि। क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिए प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे? जो कोई कहे जिसका प्रेम अधिक, उसकी प्रार्थना सफल हो जाए तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो, उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिए। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करेगा - "हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बना कर खिलाइये, मकान में झाड़ू लगाइये, कपड़े धोइये और खेती-बाड़ी भी कीजिए"। इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठते हैं, वे महामूर्ख हैं क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा। जैसे-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः॥[1]

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो। देखो! सृष्टि के बीच में जितने प्राणी हैं अथवा अप्राणी, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं। जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं, वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है। जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी का सहाय परमेश्वर भी करता है। जैसे काम करने वाले को भृत्य रखते हैं अन्य को नहीं, देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई "गुड़ मीठा है" कहता रहे, उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है।

✦✦✦

1. यजुर्वेद - 40/2

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (111-124) July-December 2018 ISSN 2277-4351

Ecological Awareness in Vedic and Ancient Indian Texts

Dr. Shashi Tiwari

Maitreyi College, University of Delhi

Ecology is the study of relationships between living organisms and their environment. In addition to studying nature, ecology also considers the effects upon the environment and particular ecosystems of various human activities. Ecology studies the exchange of energy and matter between living beings and between living beings and the non-living elements of the environment. Individuals live, grow, multiply and die and the species continues to exist and evolve. The inter-relations among individuals of one and the same species and of different species among themselves and with their environment are the core of ecological studies; hence the best definition of ecology is 'the study of the distribution and abundance of species and individuals.' In short, the study of natural cycles of living and non-living things, the analysis and measurements of the multiple aspects of cosmic order in space and time, is the true meaning of the word Ecology: the science of the living and non-living environment. Today we talk of ecological crisis, which is mainly due to man's unlimited desire, selfish attitude, ignorance and material approach to life. The present generation appears to be either indifferent to the age-old religious thoughts, cultural traditions and ethical values or completely disillusioned with them. It is noteworthy that Indian seers clearly laid down the rationales for practicing conservation of nature and maintaining environmental harmony and have prescribed religious sanctions against indiscriminate use of nature and exploitation of animals or other species.

The Vedas are the product of a highly evolved culture and source of all knowledge. Knowledge has much in common with what we now call science. Especially the Vedic views revolve around the concept of nature and life. The critical ideas, thoughts, concepts, conclusions and minute points of ancient Vedic thinkers are present in every verse of Vedic Samhitas. While reading these verses from ecological point of view, one

should alienate oneself from the contemporary world and environment. One must envisage the antiquity of the Vedic texts and should understand the truly comprehensive approach of Vedic sages. The Vedic sages have visualized the significance of ecological balance for the welfare of human beings as well as for all the living beings and inanimate things. They have realized the essential unity of the cosmos and the organic character of the interrelationship of its parts. They advocated an integrated approach to developing balance, harmony and mutuality so that there could be no exploitation of nature by human beings. They insisted that need rather than greed should be the guiding principle in our relationship with nature. They developed rituals, customs and traditions with this objective and attached religious sanctions to the need for purity of nature. Indian thinkers introduced festivals and celebrations with the idea to inculcate such thoughts, beliefs and practices from time to time. They also invented myths and legends to show the significance of nature and its various aspects in human life. They realized that the nature is a manifestation of Almighty God. The divinity assigned to nature led them to worship all the five basic forms of matter known as *Panchabhutas.* The ancient concept of divinity to natural aspects finds manifestation in tree-worship, animal-worship and in other forms of nature- worship. This paper intends to study the earliest Sanskrit scriptures with a view to learn ancient Indian concept of ecology, to examine what is said there about the protection of nature and to look at the sanctions against polluting the environment.

1. Natural Phenomenon

According to Vedas, basically known as the sacred religious books of Hindus, the structure of the world is purely Nature-oriented. '*Soma-suryatmakam jagat'* i.e. 'the world is an outcome of Soma (water or moon) and the Surya (sun)'. '*Agni-somatmakam jagat*', the world is outcome of Soma and Agni (fire). On physical ground it may be said that the world-creation is nothing except the synthesis of water and fire. This Vedic supposition proves true and scientific, since the energy cannot be generated without the co-operation of fire and water. Now this *Somasuryatmak Srishti* expands itself in macrocosm which again is transformed into environmental entities like mountains, rivers, forests, clouds, rains and so on. In the *Purushasukta* of the Rigveda[1] we find an elaborate description of this creation which comes out from *Purusha* through the process of a

1. Rigveda, 10.90

divine sacrifice. The natural phenomenons are manifestations of one Supreme power. The hymn clearly brings out the co-relationship between human beings and the environment. In this magnificent hymn, perhaps for the first time in the human history, the organic unity of the whole universe is visualized by the Vedic seer. Here, the divinity, the ultimate reality is symbolically conceived as a great entity and all existence - the earth, the sky, the heaven, planets, living and non-living things - are conceived as manifestations and parts of that one great entity who pervades the whole universe and also remains beyond it. Again in this hymn, origin of the natural forces has been traced to that great entity. In Him all, that is, has been, and will be, is united. The same idea of close relationship between the divinity and the external world is mentioned later in the Upanishads in their own way of interpretation. According to Upanishadic literature, everything in the universe is rooted in pure consciousness and pervaded by pure consciousness. All living and so-called non-living, things are connected together to one common entity which is all-pervading pure consciousness.

In the Vedic view, the whole environment bears divinity because of its divine origin. That is why in Hindu tradition the mountains are considered the abode of Gods. All natural forces, such as the sun, the fire, the wind, are invoked as visible forms of God. Ganga, Sarasvati, Sindhu and other rivers are regarded as the source of sacredness and purity. The *Tulsi, Nima, Pipala, Aamra* (mango) and many other trees are worshiped because of their relation with some God or the other. In traditional deliberations, divinity is the perpetual feature of the environment in which we are surviving. The unique vision of Vedic seers can be evidently condensed in one *Aranyani-sukta* of Rigveda[1] dedicated to forests. *Aranyani*, the goddess and queen of forest received high praise from the sage, not only for her gifts to men but also for her charm. Forests should be green with trees and plants. It says that villages are benefited by the forest; likewise wild animals are protected and nourished by them. *Oshadhi Sukta* of Rigveda[2] is addressed to plants, herbs, trees and vegetables as mother having hundreds of birth places and thousands of shoots. Natural environment with trees received special attention of the Vedic people. The same consideration of reverence and concern for herbs and trees is

1. Rigveda, 10.146
2. Ibid, 10.97

found in the later scriptures of Sanskrit literature. Manusmriti[1] set rules for the protection of plants and prescribes punishment for cutting down the trees which give flowers, fruits, medicine, purified air and shadow. Padma Purana[2] considered one tree equal to ten sons. All these thoughts show the intimacy of human beings with their natural surroundings.

2. Divinity to Nature

The universe is made on scientific principles, and that's why it is well measured. Vedic seers have a great vision about this universe. According to Vedas, the universe consists of three intertwined webs, *Prithivi, Antariksha* and *Dyau.* Vedic scientists divided even the length in three calling them upper, medium and lower. The tripartite division of the universe into three regions - *Prithivi,* the earth, *Antariksha,* the aerial or intermediate region, and *Dyau,* the heaven or sky is very well established in the Vedic literature. *Prithavi* can be given a scientific name 1observer space'. It is our space, the space in which we live and die, whatever we can see and observe. From one end of the universe to the other end is the expanse of *Prithivi*, and that is what the name *Prithivi* means: the broad and extended one. *Dyau* can be termed 'Light space' because light propagates in this space. *Antariksha* can be termed as 'Intermediate space' as this space exists in between observer space and light space. A verse from the Yajurveda[3] states that the division of universe was done on a subtle level, and not on gross level. The Vedic sages had the capability of looking at such a subtle level, which is beyond the reaches of modern science. Here, in reference to ecological study, we regard the division of the universe as the most important concept of the Vedas.

Vedic deities are explained by many scholars as natural elements or sub-elements existing in various zones of our environment. Though a large number of gods are described in the hymns, and it is very difficult to arrange them in different classes, but Yaska in his Nirukta[4] talks about three Gods: Agni in earth, Vayu or Indra in atmosphere and Sun in heaven. Each one of them is known by various names depending on the different actions performed. These three gods are three major forms of energy, fire on earth, air in intermediate space and light in upper region. Other energies

1. Manusmriti, 11.142.143
2. Padma Purana, 1.44.455
3. Yajurveda, 7.5
4. Nirukta, 7.2

of those regions are related to or under them. So generally gods are classified in three groups called upper, middle and lower, and, therefore, provide a system to study cosmos and atmosphere and its all aspects. In the Vedas, the order of the Universe is called *'Rita'*. The Vedic gods, upholding *Rita,* are all lawful, and beautiful. Varuna is depicted as the Lord of *Rita*, the universal natural order. He is sovereign god, great king, law-maker and ruler of cosmos and even of the gods.

3. Five Basic Natural Elements

The studies of the ecological aspects of nature generally refer to the five traditional elements of ancient culture: earth, water, air, fire, and ether. The intimacy of man with these elements is expressed with great joy in the Vedas.

(1) **Earth** - Most of the ecological traits of the Rigveda and Atharvaveda refer to wide Earth, its features and produce, while the central figure is man. For his survival, security and prosperity there is a constant need of food, medicinal plants, water, minerals, habitation etc. which are possible all the way through earth only. In the Vedic literature mother Earth is personified as the goddess *Bhumi*. She is the abundant mother who showers her mercy on her children. Her nature and profusion are vividly portrayed in a beautiful hymn of the Atharvaveda[1] containing 63 verses. This famous hymn, called as *Bhumisukta* or *Prithivisukta,* indicates the environmental consciousness of Vedic seers. The seers appear to have advanced understanding of the earth through this hymn. It is the mother earth which binds men together, bears plants of various healing powers.[2] She is called *Vasudhani* for containing all wealth, *Hiranyavaksha* for having gold bosom and *Jagato Niveshani* for being abode of whole world.[3] She is abode of all, though they live in different regions, speak different languages and follow different customs. She is not for the different races of men alone but for other creatures also.[4] She is called *Visvambhara* because she is representative of the universe.[5] She is the only planet directly available for the study of the universe and to realize the underlying truth.

---

1. Atharvaveda, 12.1
2. Ibid, 12.1.3
3. Ibid, 12.1.6
4. Ibid, 12.1.5,45, 46
5. Ibid, 12.1.6

This is wide earth which supports varieties of herbs, oceans, rivers, mountains, hills etc. She has at places different colours as dark, tawny, white.[1] She is raised at some place and lowered at some places.[2] The earth is fully responsible for our food and prosperity. She is praised for her strength. She is served day and night by rivers and protected by sky.[3] The immortal heart of earth is in the highest firmament (*Vyoma)*. Her heart is sun.[4] 'She is one enveloped by the sky or space and causing the force of gravitation. She is described as holding Agni. It means she is described as the geothermal field. She is also described as holding Indra i.e., the geomagnetic field. The earth is described then as being present in the middle of the oceans (sedimentary rocks) and as one having magical movements'.[5] This hymn also mentions about different energies which are generated from the form of the earth. 'O Prithivi! Thy centre, thy navel, all forces that have issued from thy body- Set us amid those forces; breathe upon us.'[6] Thus, the earth holds almost all the secrets of nature, which will help us in understanding the universe. She is invested with divinity and respected as mother- 'The earth is my mother and I am her son.'[7] The seer requests the mother earth to bestow all kinds of wealth and pledges her protection in return. The geographical demarcations on this earth have been made by men and not by nature. The earth's production of food is dependent on the principles of *Karma* which lie at the root of the creation of the universe. The Mother earth is invoked in other prayers too for protection and care.

(2) **Water** - Water is essential to all forms of life. The Rig-veda[8], Yajurveda[9], Atharvaveda [10]and Taittiriya Aranyaka[11] classify water in

1. Ibid, 12.1.11
2. Bid, 12.1.2
3. Ibid, 12.1.7,9,10
4. Ibid, 12.1.8
5. S.R.N. Murthy, Vedic View of the Earth, D.K. Printworld, Delhi, 1997, p.87
6. Yat urjastanvah sambabhubuh. Atharvaveda, 12.1.12; RTH Griffith, The Hymnsof the Atharvaveda, D.K.Publishers, Delhi, 1995, Vol.II, P 95.
7. Mata bhumih putro aham prithivyah. Atharvaveda, 12.1.12
8. Rigveda, 7.49.2.
9. Yajurveda, 22.25
10. Atharvveda, 1.6.4
11. Taittiriya Aranyaka, 1.24.1-2

different ways. The cycle of water is described in the Vedas. Waters reach sky from ocean and from sky come back to the earth.[1] The fight of Indra and Vritra represents natural phenomenon going on in the aerial space. By the efforts of Indra waters are freed and rivers are flooded. The flow of water should not be stopped and that is desired by humanity. The significance of water for life was well-known to ancient seers. They have mentioned - Waters are nectar,[2] source of all plants and giver of good health,[3] destroyer of diseases,[4] and great purifier.[5] This reminds us that water is a substance that has the greatest dissolving power.

(3) **Air** - The Vedic seers knew the importance of air for life. Air is recognized as breath of life*, prana* of all living beings, including fire that cannot exist without air.[6] Air and water are means for the transmission of vibrations, visible and invisible, measurable or not, physical or mental that produces sound, heat, motion and emotions.[7] The Taittiriya Upanishad throws light on five types of wind inside the body: *Prana, Vyana, Apana, Udana* and *Saman*. Air resides in the body as life[8]. Impact of air is highlighted in Vedic verses. Rigveda mentions -'O Air! You are our father, the protector'.[9] Air has medicinal values.[10] 'Let wind blow in the form of medicine and bring me welfare and happiness'.[11] Medicated air is the international physician that annihilates pollution and imparts health and hilarity, life and liveliness to people of the world. Another verse describes characteristics of air - ' The air is the soul of all deities. It exists in all as life-breath. It can move everywhere. We cannot see it. Only one can hear its sound. We pray to air God'[12] Ancient Indians, therefore, emphasized that the unpolluted, pure air is the source of good health, happiness and long life.

---

1. Atharvaveda, 4.27.4
2. Shatapatha Bra,1.9.3.7
3. Rigveda, 1.23.20
4. Ibid, 10.87.6
5. Shatapatha Bra,.1.1.1.1; Nirukta, 5.6.2
6. Rigveda, 10.151.4
7. Ibid, 1.171; M. Vannucci, Human Ecology in the Vedas, D.K. Printworld Delhi, 1999, p.106
8. Taittiriya Upanishad, 2.4
9. Rigveda, 10.186.2
10. Ibid, 1.37.2
11. Ibid, 10.186.1
12. Ibid, 10.168.4

(4) **Fire** - Fire, the important basic elements is praised as a divine power known as Agni who sustains life-process.[1] Agni as energy or heat is the cause of growth of living beings even those that are apparently cold, or that have the same temperature of the environment. Fire is associated to earth where plants grow, to water and air that are needed for preparation of extracts by boiling and distillation, by fumigation and by mixing with cooked food. Fire is described as eater.[2] 'The energy implied in the notion of movement is called in the Vedas: fire and heat or warmth that 'pervades the whole universe and being manifested as lofty Vishnu preserves life'.[3] Knowing the importance and essentiality of Agni in daily life, the divine element was prayed to bestow health, wealth, and luster and to destroy all ill feelings and sins. Giver, purifier and lustrous Agni is praised for the protection.[4]

(5) **Akasha** - The perception of *Akasha* as one of the five fundamental elements of the universe is much more subtle matter than the perception of earth, water, air and fire. It is a perception that goes into the abstract. Scientist could see the sky which exists only in the vicinity of earth, but Taittirya Upanishad throws light on two types of ether i.e. one inside the body and the other outside the body.[5] The ether inside the body is regarded as the seat of mind. An interesting advice to the mankind is found in the Yajurveda -'Do not destroy anything of the sky and do not pollute the sky. Do not destroy anything of *Antariksha*.'[6]

4. Symbolism of *Yajna*

Right from the very beginning the sacrifice called '*Yajna*' in Vedic literature is considered to be a strong and effective tool to get hold over the naturalistic atmosphere. This is regarded as an important concept of Vedic philosophy and religion but when we study it in its broader sense, it seems to be a part of Vedic ecological science. Yajurveda and Rigveda describe it as the 'navel (nucleus) of the whole world'.[7] It hints that *Yajna* is regarded

---

1. Ibid, 3.22
2. Atharvaveda, 12.2.42
3. Rgveda, 10.1.3; M. Vannucci, Human Ecology in the Vedas, D.K.Printworld, Delhi, 1999, p.91
4. Rgveda, 6.2.8
5. Taittiriya Upanshad, 1.6.1; 1.5.1
6. Dyam ma lekhirantariksham ma himsi. Yajurveda, 5.43
7. Yajurveda, 13.62 ; Rigveda, 1.164.35

as a source of nourishment and life for the world, just as navel is for the child. Vedas speak highly of '*Yajna'*. Through it, seers were able to understand the true meaning of the Mantras. All sorts of knowledge were created by *Yajna.* It is considered as the noblest action.[1] In simple words, *Yajna* signify the theory of give and take. The sacrifice simply has three aspects: *Dravya* (material), *Devata* (deity) and *Dana* (giving). When some material is offered to a deity with adoration, then it becomes *Yajna*. Pleasing deity returns desired material to the devotee. The symbol of this principle is the sacred fire ceremony in which most precious substance *Ghee* (butter oil) is offered into the fire. The *Ghee* sacrificed in the fire symbolizes that every activity - whatever is most precious to us - should be offered up for others. This *Yajna* is going on in the universe since the beginning of the creation. It can be seen almost everywhere. Its purpose is continuity for production and also for keeping maintenance in the world. The creation of universe is explained as *Yajna* in the *mantra*s. Hence, the concept of *Yajya* seems to be explaining the major principle of nature-science. In the environment all elements are inter-related, and affect each other. Sun is drawing water from ocean through rays. Earth gets rain from sky and grows plants. Plants produce food for living beings. The whole process of nature is nothing but a sort of *Yajna*. This process is essential for maintenance of environmental constituents.

The view that *Yajna* cleans atmosphere through its medicinal smoke, and provides longevity, breath, vision etc., is established in Yajurveda.[2] Few scholars have attempted to study the scientific nature of the Vedic *Yajnas.*[3] Undoubtedly, they have never been simple religious rituals, but have a very minute scientific foundation based on fundamental principles. According to Vedic thought, *Yajna* is beneficial to both individual and the community. *Yajna* helps in minimizing air pollution, in increasing crop yield, in protecting plants from diseases, as well as in providing a disease-free, pure and energized environment for all, offering peace and happiness of mind. Moreover, *Yajna* serves as a bridge between desire and fulfillment.

---

1. Shatapatha Bra., 1.7.1.5
2. Yajurveda, 9.21
3. M l Gupta, The Cosmic Yajna, Samhita Books, Jaipur, 1999, pp 46-47 Vanaspatayah shantirvishvedevah shatirbrahma Shantih sarvam shantih shantireva Shantih sha ma shantiredhi. Aatharvaved, 19.9.94, Yajurveda, 36.17; A.C.Bose, The Call of the Vedas, Bhartiya Vidya Bhavan ,Mumbai, 1999, p.281

5. Concord in The Universe

Modern Indian Scientists should be astonished and also feel proud of our ancestors for their knowledge and views about environment and ecology. Ancient seers knew about various aspects of environment, cosmic order, and also about the importance of co-ordination between all natural powers for universal peace and harmony. When they pray for peace at all levels in the '*Shanti Mantra*' they side by side express their believe about the importance of coordination and interrelationship among all natural powers and regions .The prayer says that not only regions, waters, plants, trees, natural energies but all creatures should live in harmony and peace. Peace should remain everywhere. The *mantra* prays for the ecological peace and talks about the concord within the universe- peace of sky, peace of mid-region, peace of earth, peace of waters, peace of plants, peace of trees, peace of all-gods, peace of Brahman, peace of universe, peace of peace; May that peace come to me!

Dyoh shantirantarikam shantih prithivi shantirapah shantiroshadhaya shantih.

'Om Shanti, Shanti, Shanti' - Peace, Peace and Peace - is said after every prayer. The first *Shanti* means peace for nature, ecological peace; the second *Shanti* means peace between human beings, worldly peace; the third *Shanti* means peace within oneself, spiritual peace. Ecological peace is referred to variously in the Vedas by many terms such as, *Shama, Svasti,* and *Shiva*.

6. Ecology in Religious Life

The recitation of famous Vedic *Mantra* called '*Gayatri'* is an important part of Hindu worship. The *Mantra* is addressed to Sun god who illuminates the earthly and heavenly realms to enlighten the mind of the worshipper with divine inspiration.[1] *Purushsukta* of the Vedas, which describes the cosmic person, is generally chanted during any ceremony, sacrifice or worship in Indian traditional system. Caring about animals and birds is a part of daily ritual under *Balivaishvadeva Yajna*. The treatment of ecology in religious life keeps the high standard and values in the Vedic culture.

Many passages of the Vedic and Upanishadic literature describe the unity of all living beings. They lay down the rule that no species is

1. Yajurveda, 36.3

superior to another because all have been created by the same Supreme Self. On the other hand, man is particularly obliged to be the protector and guardian of all creation. According to Ishavasa Upanisad, this planet does not only belong to humanity, but it belongs to all the species living on it. 'Everything within this universe is possessed by God. He pervades both the animate and inanimate. Therefore, one should only take one's fair share and leave the rest to the Supreme.' As long as we treat the planet carefully and take only our share, acknowledging that everything belongs to God, the planet will provide for our needs, but as soon as we try to take nature's gifts without offering anything in return, we become no better than thieves. The first *mantra* of Ishavasa Upanisad tells us that everything from a blade of grass to the whole cosmos is the home of God. Therefore, the whole creation is sacred. The sense of the sacred in the whole of creation is fundamental to our relationship with nature. In Vedic view all life-forms, not just human beings, must be revered. This is the reason for being vegetarian, which is ecological in the deepest sense. The animal life should not be taken for our own purposes.

The ancient Sanskrit scriptures give us three significant principles to lead a peaceful life - *Yajna, Dana* and *Tapas* i.e. sacrifice, giving and self-control. Actually these three are the ecological principles for the replenishment of the earth. Through *yajna* we replenish the earth. *Dana* or giving is the replenishment of society. We have received so much from society in the form of architecture, poetry, music, ideas, religion and knowledge. Cultures should do something to give it back to society. This maintains the ecology of society. If society is based on *Dana,* there will never be exploitation or deprivation. Thus in Indian thought social and human world is a part of environment and nature. Finally, *Tapas* or self-control replenishes the soul, i.e., internal spiritual environment. Meditation, going to holy places, self-restraint for desires, taking a vow, for silence or fasting etc. is *Tapas* which is essential for the support of the Soul. Thus, these three principles keep replenishing the total environment. This ancient view of Indian thinkers on ecology has also social, political and economic implications. They were designed symbolically to create a healthy relationship with the three environments - the natural, the social and the inner.

7. Ecological Aspects in Sanskrit Tradition

The ten incarnations (*Avatara*) of Vishu are a recurrent theme in

Indian mythological history. Vishnu exists outside the material realm as the creator, and he exists within every being as the Super Soul. He enters this world as *Avatara* to restore balance whenever his presence is needed. Vishnu incarnates almost in all species of life, especially he takes forms of animals, half animals, man, and half man, to show that in God's eyes all have an important role to play. Animals are living expressions of the spirit and they are not simply for satisfying human needs and appetites.

Vishnu's ten *Avataras* according to Jayadeva's Gitagovinda are:

1. Matsya	-	The fish
2. Kurma	-	The tortoise
3. Varaha	-	The boar
4. Narasimha	-	The man-lion
5. Vamana	-	The dwarf
6. Parashurama	-	The warrior
7. Rama	-	The king
8. Balarama	-	The cowherd
9. Buddha	-	The teacher
10. Kalki	-	The slayer

These ten *Avataras* with their ancient stories provide an significant insight into the great Vaishnava tradition within Hinduism, with its stress on the close identification of Vishnu with every aspect of the plurality of life on this earth.

In the Shrimadbhagavatam, Lord Krishna teaches environmental concern through his life and activities. He seems to be the only saviour of the environment. Krishna lived as a child among the twelve forests of Vrindavana. The trees were his friends. He defeated the serpant *Kaliya* in his child-hood and thus purified the Yamuna River. He swallowed the forest fire to protect the forest. He looked after cows as a cowherd. He spoke to the birds in their language. He rejected ritualistic worship of Indra and taught that it was better to worship the hills, forests and cows. Since that time Govardhana Hill has been worshipped by the local people as a form of Krishna. Krishna was always protecting natural elements. To live in harmony with nature, to show love to all creatures, never to harm any living being, to rejoice in the beauty of a natural life of simplicity, this was Krishna's practice of religion. Krishna purified Yamuna by removing

water-pollution. In ancient Indian traditional thought water is always regarded as pure by nature. Some guidelines for man are described in ancient texts in this regard. In Manusmriti we find the instruction that human waste should never be mixed with water- 'One should not cause urine or stool to enter water. Any thing mixed with these unholy substances, or with blood or poison, should never be thrown into water.'[1]

Ancient scriptures deal with the problem of controlling pollution vividly. In the Vishnusmti, nature's role and crisis in the environment are elaborated simultaneously. It says, 'Pollution which comes from the animal and human beings is cured by moon, sun and air. The water polluted on roads and touched by dogs and crows could be cured by air. The polluted body of a person is cured by soil and water. If the water of the well has become dirty, it can be cured by burning fire. Same way, water of ponds can also be purified by burning of fire.'[2]

The importance of trees, their plantation, nourishment, preservation and their benefits to the community have been mentioned in ancient Sanskrit texts. Great poet Kalidasa is regarded as an environmentalist. His drama Abhijnanashakuntalam presents Shakuntala as a lover of nature and always considerate to animals, birds and plants. The significance of trees in human life is stated in Varahapurna.[3] In the Skandapurana a long list of those trees is mentioned which should not be cut on any cost. In the Bhagavatapurana it is clearly stated that a man who 'with exclusive devotion offers respect to the sky, water, earth, heavenly bodies, living beings, cardinal points, trees, seas and all created beings, and considers them as a part of the body of the Lord attains the state of Supreme peace and God's grace.'[4] There are several stories in these texts which present the peaceful coexistence of beasts and animals in the hermitages. Likewise there are many evidences to prove that ancient people had ecological ethics specially based on the rich cultural traditions.

8. Conclusion

Ecology has been the inseparable part of the ancient intellectual thought. The Vedic sages were one with nature and, therefore, were fully conscious about natural resources and their defense. It was most essential

1. Manusmriti, 4.56
2. Vishnsmriti, 23.33-46
3. Varahapurana, 172.39
4. Bhagavatapurana, 11.2.41-43

for the survival of ancient people to learn how they could interfere with the world around them to improve quantity and quality of their life. We would not be here if our forefathers had not been imaginative, ingenious and wise about the implication and significance of nature in life. We find a long history and a number of views on ecology which have gradually developed through cultural eras and literary works. The need of the day is inculcation of nature-consciousness, care and respect of nature and eco-sensibility. At present, maintenance of ecological balance is not merely a question of gaining self-righteousness, but of the survival of our own children and of the generation yet to come. The message of Vedic tradition of admiration and high regard for nature, natural powers and all its aspects must be studied and reapplied in our contemporary time. Through eco-education based on ancient Indian thoughts let our generation be taught to develop a healthy relationship with nature and balancing of life-style in accordance with the laws of nature for the establishment of a healthy, prosperous, peaceful and affluent society free from hunger and disease, wants and suffering.

I will like to conclude my deliberation with the quote of Albert Einstein: 'A human being is a part of the whole, called by us 'Universe,' a part limited in time and space. He experiences himself, his thoughts and feelings as something separated from the rest - a kind of optical delusion of his consciousness. This delusion is a kind of prison for us, restricting us to our personal desires and to affection for a few persons nearest to us. Our task must be to free ourselves from this prison by widening our circle of compassion to embrace all living creatures and the whole of nature in its beauty. Nobody is able to achieve this completely, but the striving for such achievement is in itself a part of the liberation and a foundation for inner security'.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (125-128) July-December 2018 ISSN 2277-4351

A study of Gynaecology in Atharvaveda

-Tahasin Mondal
Research Scholar, Department of Sanskrit
Aligarh Muslim University

Keywords-gynaecology, Atharvaveda, infant, uterus, foetus, mātṣnāmā sukta, Bajaḥ, artava, ojas, piṅgo, garbhaḥ

Today mankind's scientific comprehension has transcended to a whole new level. Nothing is impossible, with science by our side. As an example, the test tube baby is such an achievement that even a few decades ago was supposed to be an impossible feat. The west is quite a few steps ahead of us when science is concerned. The advent of science has ensured that each and every system and major organ of the body has different scientific field and an area of study. To understand this situation we have to go back a few thousand years back in time, when the rest of the world was in darkness. India however, was scientifically ahead of all other nations, thanks to the Vedic sages and their scientific thinking. The knowledge that they imparted had a very wide spectrum but here in this research paper we will be discussing about the gynaecological aspects.

During delivery, women suffer from pain, sometimes this pain is unbearable. But interesting matter is Atharvaveda said all gods like sun etc are present in the form of baby that mean they are part of baby. If all mothers keep trust in such spiritual thought, they may feel relief from pain during delivery, that means mothers thinking have effect on infant's life-

Catasro divaḥ pradiśaścatasro bhūmya uta ।
Devā garbhaṁ samairayan taṁ vyūrṇuvantu sūtabe.[1]

Science later proved the same thing; scientifically the infant will be intelligent and have a developed brain after birth, if mother had positive sand spiritual thoughts during pregnancy. So we can say Atharvaveda is mirror of modern medicine practiced today. In the 6th mantra of this sukta, there is a term about 10 month period of infant inside mother's uterus. The seers were known about the fact that the actual time of full growth of an infant is 10 months, after that they come in this world. And if any infant comes before 10 months, the baby might have to suffer. In the

1. Atharvaveda 1.11.2

Atharvaveda they also mentioned the necessity of nurse during delivery[1]. So Atharvaveda is bright example of science and gynaecology.

In the fifth kanda of Atharvaveda, the psychological side of a pregnant women is illustrated. For a safe pregnancy and delivery mother is always remembers all gods that are staying in her uterus. Such spiritual thinking strengths the mental power-

Parvatāddivo yonerañgātsamābhṣtam
Śepo garbhasya retodhāḥ sarai parṇamivā dadhat.[2]

In the 7th kāṇda of Atharvaveda is very important-

Imā yaste śataṁ hiraḥ sahasraṁ dhamanārut
tāsāṁ te sarvāsāmahamaśmanā bilamapyadhām[3]

In this part: they mention one type of stone for preventing bleeding from arteries. This stone is of mediational value. The high bleeding during delivery can be cured by the use of this stone.

In the 8th kanda of Atharvaveda's "**mātṣnāmā sukta**" is very important about the gynaecological knowledge-

Yaḥ striyaṁ mṣtavatsāṁ avatokāṁ karoti
asyāḥ taṁ nāśaya kamalaṁ aṇjivaṁ (kuru)[4]

The meaning of the above mantra is like this: in case of death of foetus before birth, the mother's uterine problem must be diagnosed and cured. Only by doing this can we ensure the health of the baby and ensure that it lives long.

Ye sūryāt parisarpanti snuṣeva śvaśurādadhi
bajaḥ teṣāṁ hṣdaye adhi nividhyatām[5]

In this mantra also discuss about labour room. During child birth the mother's body becomes very weak and prone to diseases. Such virus enter into the mother's body from outside. For protection from such viral infection **'Bajaḥ'** is mentioned there. Such infection cannot stay alive in sun light. They can be present in a dark labour room. This diseases go away in the presence of sun-light in a way like the daughter in law goes away seeing her father in law. They literally describe the antiness between labour room virus and sun light. Bajaḥ medicine destroy this virus. They

---

1. Atharvaveda -1.11.3, 'śā vyūrṇotu vi yoni A hāpayāmasi'
2. ibid -5.1.4
3. ibid -7.35.2
4. ibid -8.6.9
5. ibid -8.6.24

compare this in a beautiful manner in Atharvaveda.

That means Atharvaveda is the first and ancient source for gynaecology. Gynaecological organ also mentioned in Atharvaveda as **'artava'** which means **ovum**, the seventh and final tissue layer, female reproductive tissue derived from the Sanskrit root meaning season. According to Ayurveda plentiful **'ojas'** in the body depends on the healthy quality of artava and śukra (sperm).

Atharva Veda is very articulate, precise and vivid when talking with respect to this. Everything from the changes the mother's body goes through while pregnant, the psychological changes to the process labour is described and elaborated upon. It has theories on the reason why some females cannot conceive. There have been evidences of surgical procedures being performed on women who cannot conceive. After child birth the mother's body becomes weak and prone to diseases. To prevent this a medicine named **'piṅgo'** was used in those times. The labour room should be rid of all things that may be a cause of infection or a disease. During labour the bio-waste (blood, umbilical cord, and placenta) should be disposed properly. This wastes could lead to infection and are dangerous for both the mother and the child. Reference in Atharvaveda-

Ye amno jãtãn mãrayanti sūtikã anuśerate
Strībhãgãn piṅgo gandharvãn vãto abhramivãjatu[1]

The Vedic scholars stressed upon the importance of sunlight entering the room. It is common knowledge that sunlight drives away germs. Unfortunately, no importance is paid to this important fact.

The Vedic scholars were so ahead of other contemporary scholars that their theories can be put to use even today. Their knowledge about gynaecology illuminated minds and helped save to lives of countless mothers and sons. What we need, is a proper scientific experiment conducted by an impartial body, to test these theories and put them to use.

The miracles performed in today's medical world are said to be a gift from the west; but contrary to the popular belief, this science has been in practice in India since times immemorial. The Vedic scholars were the pioneers in the medical branch that is now called gynaecology. And the awe inspiring fact is that all this had been done a couple thousands of years ago. All in all, the Vedic scholars demand respect and acknowledgment of the fact they were the first among men to have thought about this delicate science which gives rise to new lives.

1. Atharvaveda - 8.6.19

The purpose of this Research Paper is to raise awareness about the knowledge that the Vedic Seers possessed a few thousands of years ago. The advanced gynaecological science that is see today is present because of the precedents set by the Atharvaveda. The Atharva Veda was the first book to shed light upon this science. The origin of the word gynaecology can be traced back to the Sanskrit word **'garbhaḥ'.**

At the end it can be conclude that gynaecology is a knowledge of seers. That being done so many years ago is very impressive. Not only did they mention the medicinal cure in gynaecology but also described the spiritual process for mental peace and strength for pregnant women. They give all the matter completely and beautifully. So we can say the seers had scientific knowledge and the present science is the advanced form of their ancient theory and thinking.

Bibliography

English

Atharvaveda saṁhitã-whitney W D, parimal publication, Delhi, 2000

A Dictionary of Medicinal Plants - SandhuA.S. and Singh A.P. , Black and white New Delhi, 2005.

Studies on Medicinal Plants and Drugs in DhanvantriNighantu - Dr. Kamat S.D.- Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Delhi 2002.

The hymns of the Atharvaveda- Griffith Ralph T H, 3rd edition, Master Khilarilal &sons, Varanasi, 1962।

The Atharvaveda Bloomfield M, verlag von karl j trubner, strassburg, 1899

हिन्दी

अथर्ववेद संहिता संपादित सायणभाष्यसहित-विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, 1960।

अथर्ववेद संहिता सुबोधभाष्य-श्रीपाद सातवलेकर दामोदर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1958-1960।

अथर्ववेद संहिता शर्मा जयदेव, आर्य साहित्य मंडल, अजमेर, संवत् 2012।

अथर्ववेद एक साहित्यिक अध्ययन - त्रिवेदी मातृदत्त, होशियारपुर, पंजाब, 1973।

अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र - आर्ष प्रियरत्न, सार्वदेशिक सभा, दिल्ली, 1941।

वेदविद्या - अग्रवाल वासुदेवशरण, रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा, 1959।

वेदों में विज्ञान - डा० शर्मा बलराज, बिशन चन्द एण्ड सन्स, दिल्ली, 1997।

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (129-132) July-December 2018 ISSN 2277-4351

Yoga-Traditional Method of Well-Being

-Jaidev

Ph.D. Scholar Yogic Science
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya, Haridwar

Yoga- an ancient science and cultural heritage of India has been widely known all over the world for its healthful and therepeutic activites since the recognition by U.N.O. in 2015 and celebration of 21st June as International Yoga Day. In this connection, our hon'ble Prime Minister had played a vital role and thereby acceptance of yoga as way of life for a well-being.

In Ayurveda as well as Yoga, the concept of well being for a human being is a holistic; i.e. inclusion of all dimensions viz. physical, mental, emotional, social and spiritual; for a healthy well being. The Sanskrit word swasthya (Swa=self+stha=seated in) means the one seated in his own (original normal) nature. Currently 'Swasthya' is used as synonymous to 'health' although literally the word health does not carry the depth of meaning of Swasthya. Health does not signify the state of original normalcy, it signifies only a healed state of a secondary health. Ayurveda defines swasthya as a state of equilibrium of all biofactors (doshas, malas, agnis) of the physical body and a state of supreme quality and well being of senses, mind and soul.

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थः इत्यभिधीयते॥ (सु.सं.सू. 15/25)

In simple words, it can stated that health is a well being state of a human being in which all the biofactors; viz. doshes, dhatus malas and agnis function in co-ordinated way at their own sites to maintain their hoeostatic state and therebyt producing a sense of well being at the levels of body, mind, senses and spirit. Moreover, now-a-days W.H.O. also defines health as a state of. physical, mental, social and spiritual well being. Conclusively, well being of a person should be counted in all dimensions of health.

The ancient scriptures related with Yoga; viz. Vedas, Upnishads,

Purnas, Yogadarshan, Hathyoga, Swara Yoga, Srimadbhagvad Gita, Charak Samhita, Shusrut Samhita etc. has laid down preventive and corrective guidelines/instructions for a better way of living for a human being to keep himself a perfect well being in the interest of mankind and nature. Here is the desciption of role of Yoga in all demensions of healthy well being.

Physical Dimension

According to Hathyogic principle, nothing can be achieved without perfect physical health. Mind, secses and soul can work efficiently only in healthy physical body. (Gherand Samhita- 1/8) That is why yoga presecribes Shatkarmas (purificatory practices) to clean internal bodily organs; viz. stomach, nasal passage, respriatory passage, small and large intestines, eyes, tongue, ears etc. and thereby assisting in balanced state of all biofactros; viz. doshas, dhatus, malas etc. (Hathpradipika- 2/21). Hathyoga also describes Asnas (Postures) to maintain stability of body and mind by correcting tone of neuro-musarlo-glandular system and various postural reflexes. (Hath pradipika - 1/17; PYS 2/46) These postures are to be practiced with regularity and punctuality alongwith all practicing principles after learning them from learned teacher. (PYS 2/47; Swasthvrat vigyan Aur Yogic Chikitsa- P: 104).

Pranayama, mudres and meditational practices also play a vital role in correction of tonic rhythm of skeletal and smooth muscles alongwith correction in the malfuntioning of neuro-glandular system. The well-being has been found being improved in various resarches among healthy subjects as well as patients. (Gupta N. et. al. 2006; Karen, P. et. al. 2005; Ray R.B. et. al. 2005).

Yoga also emphasizes for healthy norms of dietary intake to maintain the homestatic state of doshas, dhatus and malas. It provides instructions of dietary intake in accordance to age, season, occupation, sex, body composition, time, quantity etc. It advicates the quality of food in respect of their properties as Satciv, Rajsic and Tamsic food to maintain healthy body and mind (Bhagwad Geeeta; 6/17).

Mental and Social Dimensions

This aspect of well being has been addressed in efficient way. The causative factors for afflictions of life are ignorance, ego, undue attachments with worldly objects, hatredness, fear of deth. Teachings of Geeta

advocates the principle of efficient actions withour desire of its fruits (Niskam Karam), perishable nature of all beings and thereby detachment, performing duties in the welfare of mankind and nature etc. In Yoga darshan, Maharishi Patanjali prescribes observation of social and personal ethical values (PYS- 2/29) viz. Non-violence, Truthfulness, Non-stealing, celibacy, Non-possessiveness, Purity, contentment, self-analaysis, Hard-working Nature (Austerity), self-surrender to God at physical, mental and verbal levels. These observances, being universal in nature, are to be followed by one self. The ve aspect of these observances are neither to be got done through other persons or recommendations for their promotions. These are also prohibited at all levels of their intensities. These observanas helps to cultivate correct psychlolgical attitude for mental well being and thereby preventing mental as well as psychosomatic disorders. With regards to practical approach, Yoga emphasizes constant pondering over the mind on+ve thoughts to curb the tendencies of -ve thoughts i.e. hatred by love; dishonesty by uprightness, discontentment by contentment etc. (PYS- 2/ 33). Moreover, M. Patanjali advocates pracically for cultivating attitudes of friendliness, compassion, gladness and indidfference respectively towards happiness, misery, virtue and vice for overcoming disteracting factors of mind and thereby achieving the goal of healthy mental and social well being. Thus, the observance of above ethical values (personal and social) helps in developing healthy society and nation and also curbs the tendencies of social evils like terrorism, dowry, killing of foeticide, violence, sexual crime, uncleanliness, greediness, possessivness, environmental pollution etc.

Spiritual Dimension

Yoga actually is a spiritual discipline and lays emphasis mainly for it and also provides guidelines and various pathways in respect of interest of a person. Its basic requirement is regular Yogic Sadhna either through Hathyogic way of through the school of Raj Yoga, Bhakti Yoga, Karma Yoga Gyan Yoga etc. under the guidance of a spiritual Guru. Yoga promotes spiritual upliftment through Astang Yoga (Practical approach), Kriya Yoga, Bhakti Yoga, Karma Yoga etc. and thereby providing solace and tranquility at spiritual level for developing onself a spiritual well being. Various saints & rishis have uplifted themselves spiriually and therey have benefited the society and mankind in overcoming miseries of world. (Swami Vivekananda, Swami Shivananda, Swami Dayananda, Maharishi

Patanjali etc.).

In this way, it can be steted conclusively that yoga has manifold approach to improve well being of a person in holistic inanner. Thus, yoga should be taught and adopted in holistic manner as way of living and not merely a physical system of yogic practices; viz Asnas, Pranayama and meditation.

References

1. Gautam, C.L. (1997). Hath Yoga Pradipika. Bairelley : Sanskriti Sanasthan.
2. Giri, R. (2015). Swasth Vrat Vigyan Avam Yogic Chikitsa. Haridwar : Bhargav Publishers.
3. Gupta N., Khera S., Vempati RP, Sharma R., Bijlani RL. Department of Physiology, All India Institute of Medical Sciences, New Delhi-110029
4. Karambelker, P.V. (2005). Patanjal Yoga Sutras; Lonavla: Kaivalyadhama.
5. Karen Pilkington, Graham Kirkwood, Hagen Rampes, Janet Richardson; "Yoga for depression: the research evidence." Journal of Affective Disorders (2005); Volume 89, Issue: 1-3, Pages 13-24.
6. Kosuri M. Sridhar G.R. (2009). "Yoga practive in disabetes improves physical and psychological outcomes". Metab. Syndr. Relat. Disod Dec (2009); 7 (6) : 515-7.
7. Malhotra P., Singh S., Singh K.P., Sharma S.B., Madhu S.V., Gupta P., Tandon, O.P. (2004). Indian Journal of Traditional Knowledge, Volume 3 (2) April 2004, 162-167.
8. Rajrishi Sharma, R.K. (1995). Astnag Yoga Rahsaya- Gherand Samhita. Haridwar: Randhir Prakashan.
9. Singh, R.H. (2009). Body-Mind-Spirit; Integative medicine in Ayurveda Yoga, Nature cure pp. 31. Varanasi: Chaukamba Surbharti Prakashan.
10. Swami Adgadanandji (2015). Srimad Bhagwad Geeta- Yatharth Geeta Manav Dharam Shasta. Mumbai: Swami Adgadananda Ashram Trust.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (133-137) July-December 2018 ISSN 2277-4351

Srimad Bhagvadgita as a Stress Management Guide

Vandana Panwar[1]

Navjyoti Siddhu[2]

The Srimad Bhagvadgita was written approximately 5000 years ago. Over this vast period Bhagvadgita had a positive influence to the people and it is considered to be the most important source for spirituality. The Bhagvadgita is beneficial in many ways as it includes aspects like transcend emotions and attend duties, inner strength, a balanced life, importance of action, yoga (bhakti yoga, karma yoga, gyana yoga, dhyan yoga) and leadership etc.

People continue to explore and discover the many benefits from bhagvadgita on wellbeing and mental health. Now days stress has become a big issue for our society. It can have negative influences to a person's life as it leads to unhappiness, tiredness, less concentration, low energy, insomnia, lack of hunger and mental diseases.

This study explores how the Bhagvadgita can reduce and eliminate stress, mood disorders, anxiety, anger, negative emotions and thoughts by bringing clarity for mind for decision making and maintaining a calm behavior.

Introduction

The Bhagvadgita, or Song of God, is an incredibly rich and in some ways very modern text. It is written in the beautiful Sanskrit language and it is easy to understand for everyone. Reading the Bhagvadgita should lead people from darkness towards light; it is a book about how to manage life and how to deal with various situations and problems. The central philosophy of the Bhagvadgita characterizes in many ways the central

1. Research scholar of Human consciousness & yogic science, Gurukul Kangri University, Haridwar.
2. Research scholar of Human consciousness & yogic science, Gurukul Kangri University, Haridwar.

theme of Hinduism even in today's context. It contains the message of divine centered living based upon right knowledge, self surrender, faith, devotion, truthfulness, forgiveness, peacefulness, self control, fearlessness, mental stability, balance and detachment.

Krishna, acting as his cousin Arjuna's chrarioteer during the war, the voice of god on earth, answers Arjuna's most urgent questions about life. They are questions about whether to act or refrain from action, how to know what is the main calling or duty of our life's, and generally how to live a god life; Arjuna expresses fears about dedicating himself to the challenge of yoga and then failing at his chosen path. The story puts us right away in one of the most challenging situations life could offer up. Arjuna is in a dynasty war against beloved kinsmen as well as manipulative, destructive cousin.

The battlefield is like a symbolic war Arjuna is fighting with a part of himself.

The Gita is a spiritual teaching about how to navigate even the most complex, visceral and life threatening challenges of life in society according to a blueprint for ethics as well as personal, social and spiritual fulfillment. Arjuna is between a rock and a hard place, as often happens in real life. A situation like that always leads to sadness, stress, worries for people. The Gita calls us to confront with head-on.

As Georg Feuerstein points out, in the Gita Krishna's focus on skillful, non-attached action in the world hankers back to vedic times and the major theme of social welfare when he espouses the aim of loka-samgraha, "the drawing together of the world".[1]

Bhagvadgita and stress

The following chapter will explain how the Bhagvadgita deals with the aspect of stress. Already the first chapter of the Gita starts with Vishad Yoga (The Yoga of Dejection of Arjuna) as Arjuna on one side of the battlefield facing his relatives (teachers, uncles, sons, nephews, grand-uncles, father in law) on the other side.[2] In this scene Arjuna is in the situation of stress and depression and he is wondering "how can I fight against my family members?" And his thoughts fluctuate and confuse his

1. Georg Feuerstein: Yoga Tradtition, page 255
2. acaryah pitarah putras tathaiva ca pitamahah
   Matulah svasurah pautrah syalah sambandhinas thata. (Gita 1/34)

mind. His limbs give way, his mouth is getting dry, his body is shivering even though he is not able to move. Arjunas hands become slippy an he loses his bow, his skin begins to burn and he almost cannot hold himself steady.[1] All these described symptoms are typical signs for stress and mental health issues.

Solutions

Sthitpragya

'Sthitpragya' the Gita describes ways to handle those states of mind. As the Gita says the mind is responsible for reaching liberation (moksha) or being captured in illusion (bandhan). Krishna says to Arjuna: To be stable in mind one thoroughly has to cast off all cravings of the mind, and has to be satisfied in the Self through the joy of the Self[2]. He should remain his mind unperturbed amid sorrows; one whose thirst for pleasures has altogether disappeared, and who is free from passion, fear and anger is stable in mind. When, like a tortoise that draws in its limbs from all directions, he withdraws all his senses from the sense-object, his mind becomes steady.[3] If a person's mind is moving towards spirituality it will lead to happiness, satisfaction, well-being as well as mental health. Otherwise the person will face various mental problems like sadness, pursue desires, negative thoughts and bad behavior. Only a stable mind can keep a person in balance.

Balanced Life

Nowadays the whole world is facing different problems. Everybody wants to be successful, people have huge expectations onto life, they worry about their future and past what can let them become hopelessness and sad. Ultimately all this leads to serious diseases (headaches, insomnia, hives, migraine, high blood pressure, obesity, diabetes, depression).

---

1. drstvemam svajanam krsna yuyutsum samupasthitam sidanti mama gatrani mukham ca parisusyati vepathus ca sarire me romaharsas ca jayate (Gita 1/28,29)
   gandivam sramsate hastat tvakcaiva paridahyate na ca saknomya-vasthatum bhramativa ca me manah (Gita 1/30)
2. prajahati yada kaman sarvan partha manogatan, atmaneyvatmana tustah sthitapragyatadocyate (Gita 2/55)
3. (Gita 2/56, 58)

Gita says that life should be balanced in all situations and that status can be reached by performing our duties established in yoga, renouncing attachment and being even-minded in success and failure, happiness and sadness.[1] Endowed with equanimity, one sheds in this life both good and evil. Therefore, strive for the practice of this yoga of equanimity.[2] The one who is ever established in the Self, takes pain and pleasure alike, regards a clod of earth, a stone and a piece of gold as equal in value, is possessed of wisdom, accepts the pleasant as well as the unpleasant in the same spirit, and views censure and praise alike.[3] To give attentiveness to all these advises can lead to a balanced life.

Meditation

The Gita also describes that stage of Meditation can be supportive to be stable in mind and live a balanced life. Meditation has a "changing" effect on the neural pathways in the brain, which helps steady the mind's nature tendency to move and follow patterns more integral to the self. As there are many different forms of meditation, it is important to realize that mediation is a process that functions step by step to steady both mind and breath into a state of even reflection or contemplation. Deeper states allow connection to pure creativity and a knowing of nature and or God. Society is at the crossroads today, where on one side humans become violent or frustrated and the other side depressed or suicidal. Only knowledge about our authentic self can guide us through difficulties as well times that are prosperous. In Chapter 6 the Bhagvad Gita describes Meditation in detail and Krishna says one should surrender the Self to God, be patient and satisfied and fix the mind on God. A person has to liberate its restless and fidgety mind from all those objects which it runs.[4] Thus it is possible to free the mind from all sorrows, pains and distractions, from the material, unreal world. The external world is unreal, not because it does not exist, but because it is unstable and ever changing.

Conclusion

Though the Gita is a very old text it is still useful in these modern times full of stress and its consequences. As Arjuna felt stressed on the

1. yogasthah kuru karmani sangam tyaktva dhananjaya
   Siddhyasiddhyoh samo bhutva samatvam yoga ucyate (Gita 2/48)
2. Gita 2/50
3. Gita 14/24
4. Gita 6/25, 26

battlefield, people nowadays feel stressed because of various reasons. Our mind is the control center for our entire emotional and physical well-being. When we become stressed or anxious our body feels the effects and it can lead to mental problems. The Gita says the main reason why our mind remains disturbed is that we are not satisfied with our present state. With Stable Mind, Balanced Life and Meditation the Bhagvadgita offers solutions for that and those are easy to implement and practicable for everybody. We need to be happy with our present state of life, should not longing for the material desires, we need to have faith in god, should do our own duty.

BIBLIOGRAPHY

1. Swami Ramsukdas, 2014, The Secret of bhakti Vedanta, Gita press Gorakhpur.
2. Srimad Bhagwat Gita, Edition 13, Gita press Gorakhpur.
3. Cope Stephen , 2006, The wisdom of Yoga, New York, Bantam books.
4. Prabhavananda, Swami and Chirstopher Isherwood, 2001, the Song of God. Bhagwat Gita. Hollywood: Vedanta Press.
5. Swami Prabhupada, (2011). Introduction to bhagwat gita. Hare Krishna land Mumbai india: The bhakti Vedanta book trust international
6. Swami Shivananda, (2008). The Bhagwat Gita. The divine life socirty.
7. Stephen Mitchell, (1988). Bhagwat gita. Newyork : Three river press.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (138-149) July-December 2018 ISSN 2277-4351

In the Beginning 2: Speculation?

(In the Beginning - the start of Philosophy in the *Rigveda*)

-Dr. Nicholas Kazanas

Director of Omilos Meleton,
Cultural Institute, Athens, Greece

0. Western scholars like to speculate and so import speculation even in places where none exists. Almost all who have dealt with the early aspect of Indian philosophy, say from the *RV* (*Ṛgveda*) to the Upanishads, write of "Hindu philosophical speculation." But a careful examination of the *RV* and the early Upanishads shows very little speculation. On the contrary, the texts evidently arise from and describe first-hand experience - except where the poet-seers indulge in playful metaphors, tropes and verbal games like riddles.

1. In the rigvedic hymn 8.48.3 we read:

ápāma sómam amṛ́tā abhūma ganma jyótir-avidāma devān;
kí ü nūnắm-asmắn kṛṇavad-áratiḥ kím-u dhurtír, amṛta,
mártyasya.

We drank soma, we became immortal; we went to the light, found the gods.

How could distress affect us now, O immortal one, how mortalís malignity?

This sounds like a very factual statement describing experience: some people say they drank soma and, passing into an altered state of [higher?] consciousness, into a realm of light, found the gods. As a consequence they feel confident that men's malignity will not harm them. One may question the truth of it and the meeting with gods (in line 1). But there is no speculation. In hymn 7.88 3-4 seer Vasiṣṭha says that he and god Varuṇa sail together in a boat in the middle of the ocean. To us it sounds fanciful, but some of those sages did believe they had close contact with the gods (whoever the latter might be). But, again, such statements are not speculative.

Vasiṣṭha, again, in 7.90.4 tells us that some seers 'found the spacious/infinite light even as they were meditating/reflecting' : *urú jyótir vividur dídhāynḥ*. Here too we may question the truth of the statement but it is one of descriptive narration not of speculation.

On the other hand, those seers claim to have experiences in realms that are not accessible to us. Consequently they could have had knowledge that we, despite our proud technological progress and centuries of philosophical speculation cannot attain. Thus they could state very simply, after a succession of instances of how the many relate to or arise from One, and that the One has become all (and everything) in 8.54.2:

> *éka evā́gnír bahudhā́ sámiddha; ékaḥ sū́kryo víśvam ánuprabhūktáḥ;*
> *ékaivóṣáḥ sárvam-idáü víbhty; ékaü vā idáü ví babhūva sárvam.*

'Being one, Agni (fire) is kindled variously/in-many-places; the sun being one has prevailed over all; being one, indeed, the Dawn lights all this [creation]; the One has variously (*vi*) become all this [and everything]'. Here, the poet states matter-of-factly that the entire creation has evolved out of the One, an unnamed primal Power, and illustrates this with instances of common experience.

Elsewhere, in 1.164.21, the seer Ucathya Dīrghatamas feels and declares that æthe mighty and wise shepherd of the whole world has entered into me [=the poet], a simpleton': *inó víśvasya bhúvanasya gopā́ḥ sá mā dhī́raḥ pākamátrā́ viveśa*. This too is a statement coming from experience: there is no qualification of any sort ("I feel/think that..." or "some say that..."). Here again one may doubt the truth of it, but the poet is not speculating.

Let us take another hemistich from 3.54.8, from the Viśvmitra family book: *éjad dhruvā́ü patyate viśvam-ékaü cárat patatŕ víṣunaü víjātā́m*. Here, the neuter *òkam* can be taken as both subject and object and some of the other neuters agree with both! I construe the verse accordingly incorporating as many aspects as reasonably possible: 'Moving yet firm, the One governs all - this manifested multiplicity, that is mobile and immobile, what walks and flies, and is [also] one'. Despite the playful syntax, here too we have an assertive statement, without any hint of doubt or of speculation, about the unity of the universe.

Such and many other factual statements could be presented by the

hundreds. In view of this, I cannot but feel baffled at the constant references by most scholars to philosophical and psychological ideas in the rigvedic hymns as "Hindu speculations".

2. A typical example of an academic who exhibits this habit of calling "speculation" the ancient Indian philosophical and psychological ideas is Franklin Edgerton, particularly in his book *The Beginnings of Indian Philosophy* (1965).

G. J. Larson writes on the development of the Sāṅkhya system (1998) and cites Edgerton: he too refers repeatedly to early philosophical ideas as "speculation" (pp 27, 41, 54, 76 etc etc). So do many other academics in English, French and German, even back to the 19th century, e.g. M. M. Williams' *Indian Wisdom*, 1893 (N. Delhi 1978). Louis Renou inserted the adjective "speculative" in the title of his publication *Hymnes Spéculatifs du Veda*... Paris 1956.

In 1955 Johan Huizinga wrote in his *Homo Ludens*: *A Study of the Play Element in Culture* that the speculative symposium with its "ritual riddle-solving competitions" marked the birth of Indian philosophy: "the enigmatic questions of the Vedic hymns lead up to the profound pronouncements of the Upanishads" (p. 107). In his *Poetry and Speculation of the Ṛgveda (1980)* W. Johnson writes of the "speculative and cosmological thought" and the "speculative content" of the rigvedic hymns, especially "speculative enigmatizing images... in the context of sacrificial symposia" (e.g. the *asyá vamásya* hymn 1.164 of Dīrghatamas) and points out that such "enigmatic verses were given the name *bráhman"* (pp 5-6). He then deals at great length with such enigmas/riddles and "speculative questions: Who witnessed Agni the first born?" (1.164.4a) and ignores so many passages that are not in the least speculative as I showed above. Finally he cautions the readers - "Despite their archaic age these questions should not be dismissed" (p 109): but who dismisses them, except academics who did not understand them?

Obviously the references to Western writings could be multiplied. However, many Indian scholars also, inspired perhaps by so many Western works, write of speculation in the early Vedic texts, academics like Hiriyanna (1932) and Ch. Sharma (1960) and many others.

All this in itself would not matter but it is based upon and inextricably bound with two highly speculative assumptions that have little foundation in reality. The first is the wretched Aryan Invasion/Immigration Theory,

AIT in short. The second is the notion that such "speculations" developed from primitive animism, ritualistic nature-worship, simplistic magic and the like, to monotheism and monism.

The AIT holds that a group or groups of Sanskrit-speakers came c1700 BCE and settled in the Saptasindhu, the Land of the Seven Rivers (todays N-W India and SE Pakistan) through Iran from the Pontic Steppes. These people forced the natives east and south or made them generally servile. Somehow they imposed their culture and language on the whole area and, at the same time, absorbed elements from the natives. This theory which is mainstream dogma in Indic and Indo-European Studies has been vigorously refuted by non-mainstream scholars since the 1990's including myself (Kazanas 2009, 2015), who argue very cogently that the Indoaryans are indigenous in Saptasindhu from at least the 7th millennium BCE.

The other theory of the development of religiophilosophical "speculation" is again mainstream dogma in most cultural studies, anthropological and religious. It is based on what I consider defective thinking, established in the late 19th century and sees practically every such phenomenon as evolving from a so-called "primitive" or crude form to more refined or complex ones. This emerged in large part due to Darwin's general theory of evolution on the one hand and on the other from the initial and increasing studies of the so-called "primitive" non-European peoples and cultures like the Red Indians in America or various tribes in Africa. I pointed out the fallacies of this thinking in Kazanas (2015).

The most misleading and pernicious publication on the evolution of "Hindu speculation" is Edgertonís book noted above. It is with this that I shall mainly deal in the following paragraphs.

3. In the Preface to his book Edgerton writes that he regards it as his last will and testament as it sums up his views on "early Indian speculationÉ after a lifetime of philological study and reflection". And he considers that some of them "are unconventional not to say unorthodox". Unfortunately, except for some rare people out of the academic stream, we all find it difficult if not impossible to break free of our long-established prejudices. Our so-called thinking is in fact regurgitating deeprooted and almost never questioned notions taken in, often unconsciously, from other unknown sources. Like most good academics, Edgerton does acknowledge many of his sources (Oldenberg, Deussen, Dasgupta, Renou et al) but the views he expresses are very much the mainstream run of the mill. It

surprises me, however, that he did not consult and does not mention Keith's *The Religion & Philosophy of the Veda and Upanishads* (1925), wherein he would have found well tabulated most of his notions but also some correctives to some of his more extravagant views.

In the *RV* he finds a "primitive animism" and a "ritualistic nature-worship" entailing a "complicated system of sacrifices" which compelled the gods "to do what the sacrificer desired" (p17). This cult was both hieratic and aristocratic, since only the rich could afford the expensive sacrificial rituals. But there were for the masses simpler ceremonies and rites not connected with the rigvedic cult. This lower cult is found in the Atharvaveda. Here "all creatures, things, powers, and even abstract principles" are regarded as "volitional potencies or spirits" and are sought to be controlled "by incantations and magic rites" (p18). Apart from the rigvedic pantheon these ceremonies know "other gods which perhaps belonged at the start to aboriginal non-Aryan tribes (Aryan is the name which the Vedic Hindus apply to themselves)".

Here, in the final sentence lurks the assumption of the AIT; also the assumption of development from primitive to refined (bred of anthropological investigations in the 19th century). I don't doubt that there were several popular cults for the masses but I also don't doubt that they were not earlier just as I don't doubt that there was no Aryan invasion/ immigration c.1700 or 2000 or even 4000 BCE. And from the double assumption lurking in Edgerton's thought, as adumbrated in the previous paragraph, I conclude that it is the writer who speculates, not the Hindus.

4. Edgerton's speculation continues. "Out of the older ritualistic nature-worship with its indefinite plurality of gods," he writes, arose the tendency to henotheism whereby one particular god out of the many is given the attributes of a single supreme deity - creator, preserver, destroyer, ruler of all - who "seems to feel it as an insult to his dignity to admit the competition of other deities" (p18)! That Edgerton writes pejoratively here may seem surprising but, then, his entire approach is not really respectful or sympathetic.

"Some advanced thinkers," he continues, "went beyond henotheism" and set up a new figure "to receive such attributes as creation of all things and supremacy over gods, men, animals, and natural powers" (p19). This new figure in the hymns was often "personalised as a sort of super-god" or as "an ultimate First Principle, an abstraction, a tentative

monism". And downgrading or undervaluing the intelligence of those seers, Edgerton tells us "the distinction between these two was probably not very sharp or clear to the Vedic poets" (p19).

How on earth does an American academic in the 20th century of our Era know what happened five or six thousand (and many more) years ago in Saptasindhu, the Land of the Seven Rivers?

He examines analytically the texts, you may tell me.

Does he really?

I doubt the efficiency and veracity of his analysis and description. And I shall provide more than enough justification for this.

He writes for instance that the "remarkable hymn" 10.129 (*nāsadīya sūkta* or Creation Hymn) "struggles towards purely negative characterizations; in the beginning there was 'neither non-existent nor existent' " (p20).

Such a description is simply untrue. Edgerton translates this hymn on pp73-4 and gives for *ámbhas* (in st 1d) 'water'; then, in st 3b *salilá* is rendered as 'ocean'. But, surely, if nothing existed, as he correctly translates st 1a, how could there be 'water' or 'ocean'? When I published last my "In the Beginning" I dealt at length with this ridiculous contradiction in all translations - as I dealt with it several times earlier in other papers.

We perhaps may like to indulge unreasonably in contradictions but we have no right to ascribe similar irrationality to the ancient poets.

And there is nothing negative about the description of That One breathing "airless by innate power". And there was 'profound Potency' *ámbhas* and imperceptible 'fluctuating energy' *salilá*. Surely these characteristics can be regarded only as positive and sufficient to warrant the subsequent evolution or creative process.

5. He writes that henotheism arose "out of the older ritualistic nature worship" (p19). But he offers no proof whatever for this. He does not really know. Nobody really knows. And in any case why speculate that it was mere nature-worship and ritualistic at that?

Here we note two seminal aspects: Edgerton's defective reading of the hymns as sources and the alleged development to henotheism (and thence to monism/monotheism).

Earlier (p18) he had written that the "aboriginal non-Aryan tribes" invoked the nature-gods "after the manner of magic-mongers, much as

medieval European incantations invoke the persons of the Trinity and Christian saintsÉ to heal a broken bone or to bring rain for the crops". Medieval European incantations to christian saints and powers are really his source, not the hymns. He is not in fact, reading the hymns as they are but as he sees them through the christian notions and practices which he has absorbed and here projects backwards. And this is what most academics do.

Undoubtedly, not only Atharvavedic but also some Rigvedic hymns are spells/incantations or invocations to different deities for various favours (e.g. 7.55 for sleep; 7.103 against all demons; 10.145 against rival wife; 10.184 for safe pregnancy; etc). And we find similar practices in peoples in Africa or South America who still live with the technology of the late palaeolithic or, at best, bronze age. The instances are many and certain and we need not linger on this matter.

However, there is a vast difference between the Vedic conception of deities and other traditions including Buddhist, Christian etc, and even Hindu. This difference is hardly ever mentioned and when it is mentioned, as by Edgerton, it is hardly given much value. Vedic deities are forces within man. Yes, of course they are deities outside, all around, natural forces on earth, in the atmosphere and the sky, (the earth itself with its fecundity, waters, rain, air, sun, moon etc); there are also gods of morality like Varuṇa, Mitra and Bṛhaspati. But, as the Atharvavedic hymn 11.8.32 says, Man is the *brahman* and all *devatā* (deities, gods) reside in him as cattle in a pen!

Edgerton has included in his illustrative translated hymns the Atharvavedic hymn 10.2, which presents the structure of the human body and calls it (st 31) "the impregnable citadel of the gods". Stanza 32 says the *ātman* resides in its golden treasure-chest and (st 32) that the Brahman has entered the same. Then, Edgerton titles 11.8 "Man and his relation to the universe". Apart from st 32, st 4 gives 10 functions in man as gods/ potencies: these are - four breaths, hearing, speech, thought, perishability and imperishability; they are said to be far older than other gods like Indra, Agni, 2 Aśvins etc (st 5), who are as yet unmanifest! In st 30 the *brahman* enters while in st 31 the sun is man's sight and the wind man's breath; therefore in st 32 *puruṣa* 'Man' is the *brahman*. So gods are internal as well.

But the internalisation of the deities had already appeared in the

RV. Agni, the Firegod, is said to be set within man's heart *hṛ́daya ā́hita* and, so, is the constant light of all inspiration, in the early hymn 6.9.6 of the Bharadvāja clan. This luminous power is perceived through mind *mánasā nicay* - (3.26.1) and itself as mental force *manas* is the fastest of all entities that fly (6.9.5). Indra too is internalised identifying himself with sages Manu, Kakṣivan and Uśanās (4.26.1) and his state may be attained by men, though not by deeds or sacrificial rites (8.70.3). Then, human functions like foresight and vigour are deified in 1.53.5 as *devī prámati* and *devī táviṣī* respectively.

What academics and most others ignore, as they get absorbed in the ceremonies of sacrifice, is that the soma-ritual is explicitly internalised also. The purifying filter, normally outside, is said to be in the heart *hrdy-antár-ādadhe* (9.73.8). And hymn 9.113.2 says that it flows out with the right expression *ṛtavakyena*, with truth *satyena,* with faith *śraddhayā* and transforming power *tapasā.*

Going back to hymn 6.9.5 -

dhruvám jyótir níhitam dṛśáye kam máno jáviṣṭhaü patáyatsv-antáḥ;

viśve devā́ḥ sámanasaḥ sáketā òékaü krátum ábhi vi yanti sādhú.

'The constant light has been set within for seeing/discerning, the mind being swiftest among all that fly. All the gods, of one mind and one intent, separately move unerringly to their one purpose'.

This I take simply that just as Agni Vaiśvanara (=belonging to all men) is the light of inspiration/discernment/consciousness in man and illumines with understanding, so the other gods who operate as the various functions in his organism (breath, circulation, digestion, hearing, sight etc etc) move in harmony performing their duty (*ékaü krátum*).

However, I do acknowledge that probably most people in the Vedic age regarded deities as external, imperceptible superhuman Powers that should be worshipped, placated and invoked for favours.

Thus, from the very earliest hymns (Maṇḍalas 3, 6, 7) some people or clans, and certainly some rishis, knew that "deities" were not mere Powers of natural phenomena but also forces-functions within man. And, as was said in 10.129.4 (*nāsadīya sūkta*) "the wise poets discovered the bond of true-being in unreality/illusion by delving with perspicuity in their

heart" (*sató bándhum níravindan hṛdí pratīṣyā kávayo manīṣā́*). For a more extensive study of the gods within, see S. Kak (2002) and N. Kazanas (2009: ch 2).

6. F. Edgerton was a distinguished academic and an excellent sanskritist who left behind much good work. But in *The BeginningsÉ* he goes astray, just like so many others, because of adherence to prevalent prejudices.

In his selections from the *RV* (p51ff) he has first the two stanzas (45, 46) from the hymn 1.164 I cited above. St 45 is about the four levels of Speech *Vāc*, obviously within man! St 46 states that seers *vípra* call That which is One *ékam sát* variously by different names - Mitra, Varuṇa, Agni, the celestial Sunbird, Yama, Mātariśvan. But because of the established speculative notions about riddles and rituals he ignores them.

As I mentioned earlier in -1, he ignores st 21 where the poet says "the mighty shepherd of the world has entered into me" and sees in the two stanzas he presents only a "tentative monotheism and monism". Be it noted that this is the only passage he cites for monism! He cites, on the contrary, many other hymns wherein one god is worshipped exclusively (e.g. Agni 2.1.3-7, Indra 2.12, Parjanya 5.83) or fashions the world (e.g. Brahmaṇaspati 10.72.2, Viṛvakarman 10.81). And one must wonder why he disregards so many other passages that express pure monism. No, he does not examine the hymns carefully.

In my previous paper "In the Beginning" I cited several passages. A very clear statement is the one I cite at the beginning of the present paper, hymn 8.54.2, third in -1: *ékaü vā idáü ví babhūva sárvam* 'being One, indeed, it became all this [world]'. This states not only that there is One [supreme deity] but also that this One became all [and everything] which is an axiom in Vednta (brahman) or in Sāṅhya (prakṛti).

One may doubt the truth of this last and similar assertions about the One being the supreme source whence all and everything is produced. There is no tangible proof for or against it and people are entitled to their own views. But why say, as Edgerton does, that it is speculation and that some thinking priests struggled from crude polytheism towards monotheism and monism?

It is quite obvious to anyone who reads the *RV* that polytheism, henotheism and monism existed simultaneously. It is equally obvious that, since the vast majority of hymns express polytheism and henotheism and

only few hymns express monism, the first two were by far the most popular cults and monism is thrown here and there, perhaps (here I do some speculating), to remind others that there is another view! Even today monism is not all that popular: most people are irreligious atheists (or materialists) and the rest follow some religion or other. A very small minority, an insignificant percentage of the population turn earnestly to monism.

But what is unforgivable in modern academics is their arrogance. They think they know best.They think they know better than what centuries' old traditions convey and than what the ancient people themselves actually say they experience. So when Dīrghatamas in 1.164.21 says explicitly that the glorious guardian of the universe entered into him, academics ignore this pretending it is not there and go on expatiating about sacrificial ritual, riddles and other peripheral matters. Yet this seer gives us an empirical statement (**the Supreme is in man**) and practical proof of the theoretical teaching of the Upanishads and other Vednta sources. Intent on his pet theories and thinking that he actually set in definitive order the "speculative beginnings" of ancient Indian Philosophy, Edgerton ignores this plain statement as unimportant "for our subject" (p51)!

So do, of course, hundreds of other mainstreamers.

7. The *RV* alone has the real beginning of (Indian) philosophy, psychology, religion and art. It is not only the most ancient and primary text of the Vedic and general Indic culture. It is also, most probably, the oldest extant document for all such aspects of the Indoeuropean culture (s). However, as it contains hymns and not essays or treatises, what we find is brief or broken ideas and expressions of (implied) larger systems of thought. I have dealt with the all-comprehensiveness of the *RV* with its poetry, philosophy, psychology, religion and sciences, frequently in the past (Kazanas 2009: 66-117; Kazanas and Klostermaier 2012; especially Kazanas 2015: ch3). In this final section I shall deal only with religiophilosophical aspects.

a) There was atheism/materialism. This is obvious in 2.12 where the poet mentions in st 5 that there are people who deny Indra's existence. Not so obvious but surely indicative of a not respectful attitude towards orthodoxy is the hymn of the Frogs 7.103, which lampoons brahmin priests, gurus and devotees. Then, there are several hymns showing that in one way or another some people are not even superstitiously religious or that

they easily stray from the moral path (7.86 to Varuṇa; 9.112 to Soma; 10.34 with the gambler's lament).

b) There was the low popular "religion" which amounted to superstition, magic of sorts and make-believe. As most scholars indicate, the bulk of *AV* and some Rigvedic hymns (*RV* 7.55 for sleep; 10.97 on healing plants; etc) bear this out very clearly. This could well have been the strongest strand among common people.

c) Orthodox brahmanic religion with its rituals and extensive duties is most in evidence in the *RV*. This was the religion of the Aryas generally, but, apart from the hieratic class, only the better-to-do could really adhere to it fully since sacrifices and other rites were expensive. But this was the stem that developed later into Hinduism.

d) The esoteric cult involved a much smaller percentage of the people that gathered in groups (or "schools") in different areas and applied to their everyday behaviour moral or yogic practices (and I don't mean *sanas* and related gymnastics) for the realisation of the divine Self that they felt or thought or knew they were. This self-realisation is evidenced clearly in Kaṇva's second birth (*RV* 8.6.10): "Having received from my father the essential wisdom (*medh*) of the Cosmic Order (*ṛta*) I was [re-]born even like the Sungod Skrya". These adherents practised meditation and prayer (7.90.4; 5.40.6; 3.31.9; etc) or strict moral behaviour and mental discipline (1.125.7; 1.151.4; 2.23.17; etc) and, of course, imbibed soma (8.43.3; 9 passim).

All these religiophilosophical strands and variations thereof existed at the same time even in the earlier period of the *RV* (see also Werner 1998). It is only highly prejudicial speculation, ignoring factual evidence and reason, that would give priority to "primitive animism" or "ritualistic nature-worship". For then, could it not be that the beginning was a full and sure knowledge of the One and this gradually degenerated (=evolved) into the other three aspects mentioned above? Is it not prejudicial thinking on our part, fundamentally formed in the later 19th century, that generates all our pseudo-scientific speculations?

I shall return to this investigation and complete it in a third essay.

Bibliography

Edgerton F. 1965 *The Beginning of Indian Philosophy* Harvard, HUP.

Huizinka J. 1955 *Homo Ludens: A Study of the Play Element in Culture*, Boston, Beacon Press.

Johnson W. 1980 *Poetry and Speculation of the Ṛg Veda* Berkeley/ London, University of California Press.

Kak S. 2002 *The Gods Within* N. Delhi, M. Manoharlal.

Kazanas N. 2009 *Indo-Aryan Origins & Other Vedic Issues* N. Delhi, Aditya Prakashan.

2015 *Vedic and Indo-European Studies* (all the linguistic evidence for indigenism and against the AIT), N. Delhi, Aditya Prakashan.

Kazanas N. & Klostermaier K. 2012 ũVedic Civilisation & its Spreadẽ in *Vedic Venues* vol 1, pp1-27.

Keith A.B. 1925 *The Religion & Philosophy of the Veda and Upanishads*, Harvard, Harvard Oriental Series, HUV.

Larson G.J. 1998 *SAkhya* N. Delhi, M. Banarsidass.

Renou L. 1956 *Hymnes Spòculatifs du Veda* Paris, Gallimard.

Werner K. 1989 *From Polytheism to MonismÉ* in *Cosmos* vol 5 (12-27) *Polytheistic Systems*, ed G. Davies, Edinburgh Univ. Press.

Williams M.M. 1893/1978 *Indian Wisdom* London, N. Delhi.

✦✦✦

Vaidika Vāg Jyotiḥ Vol. 6, No. 11 (150-154) July-December 2018 ISSN 2277-4351

मेरे गुरुवर की स्मृति में

(श्रद्धाञ्जलि : स्व. डॉ. भवानीलाल भारतीय)

-डॉ. दिनेशचन्द्र शास्त्री
प्रोफेसर, वेद विभाग,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

"यह नीड मनोहर कृत्यों का यह विश्व एक रंगस्थल है
यहां ठहरा जिसमें जितना बल है।" (कामायनी)

कविवर जयशंकर प्रसाद की उक्त पंक्तियों में जीवन का यथार्थ दर्शन अंकित है।न जाने कितने महापुरुष पैदा हुए और आगामी काल में जन्म लेकर अपनी यश:पताका को फहरायेंगे। यह एक शाश्वत सत्य है जो जन्मा है उसका शरीरक्षय अर्थात् मृत्यु अवश्य है और जो मृत्यु को प्राप्त हुआ है उसका जन्म भी अवश्य है-जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च-इस वैदिक सिद्धान्त को अपने जीवन में आत्मसात् कर जिन मनीषियों ने अपनी लेखनी की धार को कुन्द नहीं होने दिया, सत्य के प्रतिपादन में अहर्निश अपने को खपा दिया, दयानन्द मिशन को आगे बढ़ाने के लिए हजारों पृष्ठों का लेखन किया, जो पिछली पीढ़ी के लिए ही नहीं अपितु आगे आने वाली पीढ़ी के भी पथ प्रदर्शक बने, ऐसे गण्यमान्य जनों में डा. भवानीलाल भारतीय जी का नाम अमर रहेगा।

डा. भारतीय का सम्पूर्ण जीवन आत्मविश्वास, लक्ष्य की स्पष्टता, परिश्रम, अध्यवसाय और निष्ठा का परिचायक है। उन्होंने अध्ययन और अध्यापन को अपना ध्येय बनाया। विद्यालयों से लेकर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों से उनका सम्बन्ध रहा।

राजस्थान के अन्तर्गत परबतसर (मारबाड) में एक सुसंस्कृत, शिक्षित और वकीलों के साधारण परिवार में जन्म लेकर उन्होंने अपनी मेधा के आधार पर स्वयं अपने जीवन का निर्माण कर कीर्त्ति, प्रतिष्ठा और महानुभावता के वटवृक्ष के रूप में अपनी पहचान बनाई। उनके जीवन में महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति उनके लगाव ने एक प्रमुख भूमिका निभाई। महर्षि का उद्दात्त चरित्र उनकी प्रेरणा का स्रोत रहा। डा. भारतीय जी हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे

कुछ अन्य भारतीय भाषाएं भी जानते थे। उन्होंने भारतीय इतिहास, भारतीय विचारधाराओं और भारतीय संस्कृति का विशद् और गहन अध्ययन किया था।उन्होंने अनेक विषयों से सम्बन्धित विपुल साहित्य की रचना की थी। उनका महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के विषय में जो शोध कार्य है, वह अनुपम है। विद्वत् समाज इसके लिए कृतज्ञ रहेगा। महर्षि दयानन्द का जो जीवनचरित उन्होंने लिखा, जो शोध और परिश्रम किया उसके सम्बन्ध में सुधी विद्वानों ने बहुत प्रशंसा की है। उन्होंने एक विशाल और अनूठा पुस्तकालय, जहां दुर्लभ वैदिक साहित्य, प्राचीन इतिहास, आर्यसमाज विषयक लगभग 8000 ग्रन्थ एवं 500 के आसपास विभिन्न महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं की फाइल्स प्रबुद्ध पाठकों और शोधकर्ताओं के लिए उपलब्ध थी, जिसे कुछ वर्ष पहले उन्होंने डा. रामप्रकाश (कुरुक्षेत्र) जी को दे दिया था, अपने निजी प्रयासों से ही संस्थापित किया था। देश और विदेश से शोधकर्ता आकर उनसे मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। इस प्रकार मेरे गुरुवर आर्यसमाज के चलते-फिरते विश्वकोश थे।

डा. भारतीय जी न केवल एक अच्छे शोधकर्ता और लेखक थे, वे अच्छे विचारशील भाषणों के लिए भी प्रख्यात थे। देश और विदेश से आर्यजन उनके भाषणों को सुनने के लिए लालायित रहते थे। नेपाल, बेल्जियम, हालैण्ड और मारिशस आदि देशों में कई बार जाकर उन्होंने अपने वैदुष्य का प्रदर्शन किया था। प्रो. जे.ई. लेवेलिन (अमेरिका), डा. जे.डी.एफ. जार्डेन्स (आस्ट्रेलिया) और श्री टिने हेराल्ड फिशर (जर्मनी) जैसे प्रसिद्ध लेखक उनके मित्र थे। उनके बचपन के सहपाठी डा. रामप्रसाद दाधीच ने लिखा है कि 'भारतीय जी ने जीवनानुभवों, ज्ञानार्जन और अपने रचना कर्म के कई पडाव पार किये। उनकी यह लम्बी यात्रा समग्रतः सार्थक और रचनात्मक रही है। एक चरित्रवान्, कुशल अध्यापक के रूप में तो इन्हें ख्याति मिली ही, पर एक सार्थक रचनाकार और एक प्रभावशाली वक्ता के रूप में भी इन्हें प्रतिष्ठा मिली'। चूंकि वे मेरे गुरु थे इसलिए मैं उनको काफी समय से जानता हूँ। जब भी उनका हरिद्वार आगमन होता था तो वे माताजी के साथ मेरे घर पर ही रुकते थे। मेरा पूरा परिवार उनकी सेवा कर अपने को कृतकृत्य मानता था। मुझे वे पुत्रवत् स्नेह करते थे। वे सादा जीवन और उच्च विचार में विश्वास रखते थे। आत्मप्रचार और अंह से दूर अपने लेखन और पठन-पाठन में व्यस्त रहते थे। उनकी इस प्रकार की अध्यवसाय प्रवृति को देखते हुए ही कर्नाटक के भूतपूर्व राज्यपाल श्री त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी ने लिखा था कि-'प्रायः आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द या 19वीं और 20वीं सदी के भारतीय नवोदय और उत्थान के विषय में यदि मुझे कुछ जानकारी अपेक्षित होती है तो मैं सीधा डा. भारतीय से पहले वार्तालाप करता हूँ चूंकि उनके पास ज्ञान का अतुल भंडार है'। उन्होंने अपने को पुस्तक-कीट

और साथ ही मसिजीवी भी अपनी जीवनी में स्वयं को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'मेरी मान्यता रही है कि मानव जीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य ज्ञानोपार्जन है और इसका प्रमुख साधन है अध्ययन। अध्ययन से मुझे असीम तृप्ति मिली है और लेखन को मैं आत्माभिव्यक्ति का प्रमुख साधन मानता हूँ। पढ़ने की अपेक्षा लिखना अधिक कठिन है, इसे मैंने हजारों पृष्ठों का साहित्य लिखने के उपरान्त अनुभव किया है। प्रथम वर्ष 'कला' में मैंने फ्रान्सिस बेकन का निबन्ध Of Studies पढ़ा था जिसकी सूत्रात्मक शैली में लिखी निम्न पंक्तियां आज भी इस तथ्य की घोषणा करती हैं कि लेखन मनुष्य को पूर्ण(सटीक)बनाता है- Reading maketh a full man-Conference a ready man-Writing an eñact man- मैं अपने साक्ष्य से कह सकता हूँ कि अपने मनोगत अभिप्राय को शब्द देकर मैंने असीम तृप्ति पाई है। 'निस्सन्देह गुरुवर का विषय वैविध्य से व्यापृत बहुआयामी लेखन था।। मेरी दृष्टि में वे एक व्यक्ति नहीं अपितु एक संस्था थे। उनका व्यक्तित्व इतना ख्यात, इतना प्रशंस्य, इतना वरेण्य, इतना प्रेरक और अनुकरणीय था कि आज भी जब मैं कुछ लिखने बैठता हूँ तो उनका वह उक्त व्यक्तित्व मेरे सामने आ जाता है। उनके सांस्कृतिक अवदान को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। डा. भारतीय जी ने अपना जीवन एक नैतिक और आदर्श व्यक्ति का जिया।वे जीवन भर एक ज्ञान पिपासु रहे और सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक जीवन में अति परिवर्तनकारी या सक्रिय रहकर कभी विवादग्रस्त नहीं रहे। उनका जीवनपथ एक जिज्ञासु की डगर रही और एकनिष्ठ भाव से साहित्य सृजन और स्वामी दयानन्द के संदेश और दर्शन का प्रचार-प्रसार करते रहे। सारल्य, सौम्यत्व और सात्विकता उनके व्यक्तित्व के वरेण्य तत्व थे।

गुरुवर प्रो. भारतीय जी ने हिन्दी और संस्कृत दोनों विषयों में मास्टर डिग्री अच्छे अंकों के साथ प्राप्त की थी और साथ ही अंग्रेजी भाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार था, ऐसा हम पहले लिख चुके हैं। उन्होंने पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी द्वारा सुझाए "संस्कृत साहित्य को आर्यसमाज की देन" विषय पर मौलिक शोधप्रबन्ध लिखकर पी-एच.डी. की उपाधि भी प्राप्त की थी। प्रो. भारतीय जी के लेखन का क्षेत्र बहुत व्यापक था। ऐसी कोई विधा दयानन्द साहित्य की नहीं थी जिस पर उन्होंने न लिखा हो। जो लिखा सर्वथा मौलिक लिखा। उनके लेखन में भाषा का प्रवाह स्वाभाविक था कृत्रिम नहीं। 150 से अधिक पुस्तकों का लेखन जहां भारतीय जी ने किया, जिनमें 16 पृष्ठ की लघुपुस्तिका से लेकर 650 पृष्ठों तक के 'नवजागरण के पुरोधा' जैसे ग्रन्थ थे, वहीं हजारों लेख भी आपने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लिखे। 6 दशकों से अधिक का सक्रिय काल भारतीय जी के लेखन का रहा है। इस लेखन में स्वामी दयानन्द की जीवनी के अलावा डा. सत्यकेतु विद्यालंकार के नेतृत्व में लिखित 'आर्य समाज का इतिहास' के पांचवे

खण्ड का लेखन, 11 भागों में प्रकाशित 'स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली' के 9 भागों का लेखन और 1300 आर्य वैदिक विद्वानों के परिचय की प्रविष्टि वाले 'आर्य लेखक कोश' का लेखन प्रमुख रूप से है। 30 से अधिक शोधार्थियों ने उनके निर्देशन में शोधप्रबन्ध लिख पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। राजस्थान सरकार की अध्यापन सेवा से सेवानिवृत्ति लेकर भारतीय जी ने पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ की दयानन्द चेयर पर चेयरमैन अर्थात् अध्यक्ष के कार्य का निर्वहण करते हुए इस चेयर के आद्य चेयरमैन डा. रामनाथ वेदालंकार जी की Legacy को बहुत ही अच्छे ढ़ंग से आगे बढ़ाया। स्वयं जहां अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे वहीं अनेक शोधार्थियों से भी गम्भीर और शास्त्रीय विषयों पर कई शोधप्रबन्ध लिखाए। जिनमें से कुछ एक के नाम मुझे याद आ रहे हैं। जैसे वेदपाल वर्णी द्वारा शतपथ और स्वामी दयानन्द के यजुभाष्य का तुलनात्मक अध्ययन, डा. नरसिंह पण्डा द्वारा अंग्रेजी भाषा में लिखित वेदांगसाहित्य को आर्य समाज की देन, डा. सुरेन्द्र कुमार द्वारा लिखित वैदिक आख्यानों पर शोधप्रबन्ध, एवं इसी शृंखला में मेरे द्वारा लिखा गया स्वामी दयानन्द की विचारधारा एवं विशाल वैदिक वाङ्मय को आधार बनाकर वैदिक भक्तिवाद पर महत्वपूर्ण शोधप्रबन्ध।

संस्कृत में एम.ए. करने के बाद जब मैं अनारकली आर्यसमाज मन्दिर दिल्ली में प्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं अन्ताराष्ट्रिय वैदिक विद्वान् स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती और पं. क्षितीश वेदालंकार के चरणों में बैठकर 1988 में वैदिक मिशन की शिक्षा प्राप्त कर रहा था, उस समय यदा-कदा दिल्ली आगमन होने पर डा. भारतीय जी स्वामी सत्यप्रकाश जी से मिलने आया करते थे। उनके साथ विशेष लगाव स्वामी जी का था।स्वामी जी और पितृव्यचरण स्व. राजवीर शास्त्री जी के कहने पर भारतीय जी ने मुझे अपने निर्देशन में शोध कराने का आश्वासन दिया एवं चण्डीगढ़ आकर विषय चयन की बात की। मैं समय निकालकर चण्डीगढ़ में डा. सहाब से मिला। मेरी योग्यता और दयानन्दीय सिद्धान्तों की पारिवारिक पृष्ठभूमि वे पहले से ही जानते थे, अतः उन्होंने मेरे लिए प्रारब्धवादानुमोदित पौराणिक भक्ति का निरसन करते हुए मुझे दयानन्द सरस्वती की आर्याभिविनय के आधार पर वैदिक भक्तिवाद की स्थापना तार्किक और शोध मानदण्डों के अनुरूप करने की बात कही, क्योंकि वे जानते थे कि इस विषय पर आर्यसमाज के क्षेत्र में कोई प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं है। शोधप्रबन्ध की रूपरेखा बनाने में आरम्भिक परेशानी आयी, परन्तु जिसके निर्देशक भारतीय जैसे चलते फिरते विश्वकोश हों वहां इस तरह की परेशानियां कहां रुकने वाली थी। गुरुवर के अध्यवसाय का लाभ उस दिन मैंने खूब उठाया तथा कुछ घण्टों में ही रूपरेखा बनकर तैयार हो गयी और मैंने उस पर कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। सम्बन्धित अनेकों ग्रन्थों का पारायण मैं कर गया। और अपने शोध में उपयोगी

आवश्यक नोट्स भी बनाता गया। फलस्वरूप शोधप्रबन्ध निर्धारित समय में पूरा हो गया। चूंकि इस क्षेत्र में मैं बिल्कुल नया था अतः कभी-कभी पौराणिक भक्तिवाद की सृष्टिप्रक्रिया के विपरीत बातों को पढ़कर निराशा भी होती थी। गुरुवर डा. भारतीय जी की कृपा से भागवत्पुराणोक्त नवधा भक्ति की समालोचना करते हुए मैंने एक नयी दृष्टि प्राप्त की।जिसे मैंने अपने शोधप्रबन्ध में प्रदर्शित किया है। इसे मैं अपने गुरु भारतीय जी का शक्तिपात मानता हूँ। मैं आज जो कुछ हूँ यह सब गुरुजनों का पुण्यप्रसाद है। मैं अपने को धन्य मानता हूँ जब लोग यह कहते हैं कि आपने भारतीय जी के निर्देशन में शोध कार्य किया है।बडा आदर भाव मिलता है मुझे अपने गुरुवर का नाम अपने साथ जोडने पर। पं. मूलशंकर माणिक लाल याज्ञिक के शब्दों में मैं कह सकता हूँ कि-**शिष्याः यदुत्कर्षमवाप्नुवन्ति प्रभाव एवैषः गुरोरमोघः** अर्थात् गुरुजनों के आशीर्वाद से ही शिष्य उन्नति को प्राप्त करते हैं ।

चूंकि 11 सितम्बर की मध्य रात्रि से मुझे अनजाने ही बेचौनी होने लगी और नींद नहीं आयी। जिससे मैं अपने रूटीन के विपरीत जल्दी जग कर इधर उधर घूमने लगा। इसी दौरान जैसे ही मैंने फेसबुक खोला उसमें मुझे गुरुवर भारतीय जी के निधन का दुखद वृतान्त पढ़ने को मिला। अब मेरे समझ में आया कि यह बेचौनी क्यों थी? अपने आत्मीय के जाने पर इसी प्रकार के संकेत मिला करते हैं। ऐसा मैंने कई बार अनुभव किया है।इस दुखद समाचार को पढ़कर मैं अवाक् रह गया। कुछ समझ में नहीं आ रहा था।तुरन्त मैंने गंगानगर में भाई गौर मोहन को फोन करके सच्चाई जाननी चाही, परन्तु फोन नहीं लगा। इधर उधर से डा. साहब के देहावसान के समाचार की पुष्टि होने पर बाद में गौर मोहन जी से भी बात हो गयी। क्योंकि अन्त्येष्टि में हम दूरी होने के कारण पहुंच नहीं सकते थे, फिर भी अन्त्येष्टि के बताये समय पर हम अपने वेद विभाग के सभी छात्रों और प्राध्यापकों के साथ बैठकर स्वामी दयानन्द सरस्वती की 'संस्कार विधि' में निर्दिष्ट सम्बन्धित संस्कार के मन्त्रों का पाठ कर, अन्त में हमने श्रद्धांजली सभा की। उसकी रिपोर्ट हमने अपने यूट्यूब चौनल वैदिक सेतु पर अपलोड की। स्वामी दयानन्द और वैदिक पुनर्जागरण को एकाग्रभाव से समर्पित सौम्य, सात्विक, कृती महापुरुष अब हमें कहां मिलेगा? परमात्मा मेरे गुरुवर डा. भारतीय जी की आत्मा को सद्गति प्रदान करे। समृद्ध आर्यसमाजों से मेरी प्रार्थना है कि पं. धर्मदेव विद्यामार्तण्ड जी को अपना गुरु मानने वाले दिवंगत भारतीय जी का एक अप्रकाशित "आर्यसमाज साहित्य की बिब्लियोग्राफी" नामक ग्रन्थ है। यदि इसका प्रकाशन हो जाये तो यह वास्तविक श्रद्धांजलि होगी।

✦✦✦